इवान इलिच

विश्व विख्यात चिंतक। धर्म और दर्शन के अध्येता। क्यूएर्नावासा में सेंटर फार इंटरकल्चरल डाकुमेंटेशन नामक विवादास्पद केंद्र के संस्थापक। अन्य उल्लेखनीय प्रकाशन सेलेब्रेशन ऑफ अवेरनेज एनर्जी एंड इक्विटी मेडिकल निमेसिस

इंदुप्रकाश कानूनगो

प्रख्यात पश्चिमी लेखकों की रचनाओं के अनुवाद पूर्वग्रह साक्षात्कार कलावार्ता सारिका रविवार पटकथा विपाशा आदि अनेक प्रतिष्ठित साहित्यिक पत्रिकाओं में प्रकाशित

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

60
I1
91

इवान इलिच

पाठशाला भंग कर दो

अनुवाद: इंदुप्रकाश कानूनगो

पाठशाला भंग कर दो : अनुवाद इंदुप्रकाश कानूनगो

© इवान डी. इलिच (मूल अंग्रेजी में)
म. प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी (इस हिन्दी संस्करण का)

[] प्रादेशिक भाषा में विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थों और साहित्य के लिए भारत सरकार के मानव संसाधन मंत्रालय (शिक्षा) की केन्द्र प्रवर्तित योजना के अन्तर्गत मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल द्वारा प्रकाशित एवं भारत सरकार द्वारा रियायती दर पर उपलब्ध कराये गये कागज पर मुद्रित।

[] प्रथम संस्करण : 1989

[] मूल्य : रुपये 20.00

[] आवरण : जे. पी. श्रद्धा, भोपाल

मुद्रक : शिवा प्रिंटर्स, नया बाजार, ग्वालियर

प्राक्कथन

म. प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी पिछले दो दशकों से आपके बीच काम कर रही है। शिक्षा के उच्च स्तरों पर मातृभाषा हिन्दी में पढ़ने वाले छात्र और पढ़ाने वाले प्राध्यापकगण अकादमी के काम से अपरिचित न होंगे। विज्ञान और मानविकी के लगभग पच्चीस विषयों की पांच सौ से अधिक पुस्तकें प्रकाशित करके अकादमी ने यह सिद्ध कर दिया है कि हिन्दी भाषा आधुनिक ज्ञान-विज्ञान को समझने और व्यक्त करने में पूरी तरह सक्षम है। अंग्रेजी न जानने वाले बहुसंख्यक छात्रों ने इन पुस्तकों को अपना आधार बनाया है और इससे उनका आत्मविश्वास बढ़ा है।

1969 में अकादमी की स्थापना करते हुए केन्द्र सरकार ने संस्था से यह अपेक्षा की थी कि उच्च शिक्षा के हर स्तर पर हिन्दी माध्यम की पुस्तकें सुलभ रहें, हिन्दी में पाठ्य-पुस्तक लेखन की परम्परा बने तथा शिक्षा केन्द्रों में एक ऐसी प्रक्रिया चले जो माध्यम परिवर्तन के विचार को उसकी अन्तिम परिणिति तक पहुँचाये। अकादमी ने अपने दायित्व को निबाहते हुए शिक्षा केन्द्रों से जुड़े विद्वतजनों के सहयोग का दायरा बढ़ाने की लगातार कोशिश की और उसके अच्छे परिणाम निकले। अनेक प्राध्यापकों ने मूल हिन्दी में लेखन किया और कर रहे हैं तथा छात्रों ने शोध स्तर तक हिन्दी को बेहिचक अपना माध्यम बनाया और ऐसे छात्रों की संख्या दिनोंदिन बढ़ रही है। इससे अकादमी का उत्तरदायित्व बढ़ गया है। इस बढ़े हुए उत्तरदायित्व को निबाहने के लिए संस्था प्राध्यापकों तथा शिक्षा केन्द्रों के पुस्तकालयों से और अधिक सक्रिय सहयोग की अपेक्षा रखती है। अकादमी की पुस्तकों को छात्रों तक पहुँचाने में प्राध्यापकों और पुस्तकालयों की बहुत बड़ी भूमिका है और मैं आश्वस्त हूँ कि सम्बन्धितों को अपनी भूमिका की पूरी-पूरी चेतना है। पुस्तकों का स्तर सुधारने की आवश्यकता भी मैं अनुभव करता हूँ और समझता हूँ कि छात्रों और अध्यापकों को समय-समय पर अकादमी से सीधा सम्पर्क करके पुस्तकों के गुण-दोषों की समीक्षा करनी चाहिये।

आपके हाथों में यह पुस्तक सौंपते हुए मैं आशा करता हूं कि इससे आपकी आवश्यकता पूरी होगी।

हस्ता. /–
(चित्रकांत जायसवाल)
मंत्री, स्कूली शिक्षा तथा उच्च शिक्षा,
मध्यप्रदेश शासन
एवं अध्यक्ष
म. प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,
भोपाल

प्रस्तावना

इवान इलिच बीसवीं शताब्दी का एक ऐसा विचारक है जिसने शिक्षा, चिकित्सा उद्योग, यौन विज्ञान एवं शैक्षिक मनोविज्ञान आदि क्षेत्रों में अनेक स्थापित मानदण्डों, मुहावरों एवं मान्यताओं को खण्डित किया है। गए दो दशकों में उनकी जो कृति सर्वाधिक चर्चित हुई, वह है "डी स्कूलिंग सोसायटी"। शिक्षा के संस्थापीकरण, ज्ञान के अनुशासन जन्य कारावासीकरण एवं एकान्तीकरण के विरुद्ध यह रचना समग्र सामाजिक, आर्थिक, वैज्ञानिक एवं मूल्यगत सन्दर्भों के साथ जब आज के बौद्धिकों के बीच उपस्थित होती है तो सदियों से प्रचलित प्रविधियों, प्रणालियों व प्रक्रियाओं के स्तम्भ हिल उठते हैं। स्कूल किस प्रकार के ज्ञान के प्रमाणपत्रीकरण और पाठ्यक्रमों के बेतुके श्रेणीकरण को प्रश्रय देते हैं और इस प्रकार सीखने के इच्छुक बालक को किस प्रकार उसकी सर्जनात्मकता, चिन्तन शक्ति एवं अन्वेषण-क्षमता से उद्भूत सार्थक प्रयासों से वंचित करते हैं, इसकी एक अत्यन्त उत्तेजक बहस इस कृति में उठाई गई है। पुस्तक में उठाए गये क्रांतिकारी एवं विध्वंसकारी विचार तरह-तरह से सोचने को मजबूर करते हैं। प्रश्न अब यह है कि "पाठशाला भंग" कर देने से ज्ञान अर्जित करने का विकल्प क्या होगा? क्या "लर्निंग वेब" (शिक्षण जाल), मिनि- स्कूल (लघु स्कूल) विकल्प होकर पुनः किसी स्कूल या संस्था में नहीं बदलेंगे? क्या एवरेट हैमर की कृति "द स्कूल इज डेड" स्कूल की मृत्यु घोषित करके इलिच के "डीस्कूलिंग" को सही समर्थन नहीं देते हैं? स्कूल नामक संस्था के भंग कर दिए जाने पर समाज का क्या होगा, उस मानसिकता का क्या होगा जो स्कूल के बिना ज्ञान की कल्पना नहीं करती? ऐसे तमाम प्रश्न इस पुस्तक में उठाये गए हैं। शिक्षा की पाश्चात्य पद्धति आने और अपनाने के पूर्व भारत में कुछ वही पद्धति थी, जिसकी विवेचना लेखक ने की है।

अकादमी ने श्री इन्दुप्रकाश कानूनगो के विशेष सहयोग से इस कृति का हिन्दी अनुवाद अपने पाठकों व छात्रों के समक्ष रखने की पहल की है। इस कृति को हिन्दी में एक चर्चित कृति बनाने का काम तो पाठकों, बुद्धिजीवियों

और उन सबका है जो शिक्षा व बच्चों से अपने आपको सम्बद्ध मानते हैं। श्री कानूनगो को इस महत्वपूर्ण अनुवाद के लिए श्री शरदचन्द्र बेहार, तत्कालीन प्रमुख सचिव, शिक्षा एवं श्री रमेश दवे, प्राध्यापक, राज्य शिक्षा संस्थान ने विशेष रूप से प्रेरित किया। मुझे प्रसन्नता है कि अकादमी इस महान शैक्षिक कृति को उनकी भावनाओं के अनुरूप प्रस्तुत कर रही है। आशा है हिन्दी के पाठक, शिक्षक, शिक्षाविद् छात्राध्यापक, एवं अन्य बुद्धिजीवी इस पुस्तक को हिन्दी के संवाद मंच पर रख कर आज की भारतीय शिक्षा के नये सन्दर्भ तलाशेंगे

हस्ता/-
(प्रमीला कुमार)
संचालक

29 अक्टूबर, दीपावली, 1989.

पाठशाला भंग कर दो

(डीस्कूलिंग सोसाइटी)

इवान इलिच का जन्म वियेना में 1926 में हुआ। उन्होंने ग्रेगोरियन विश्वविद्यालय, रोम, में धर्म और दर्शन का अध्ययन किया और साल्जबर्ग विश्वविद्यालय से इतिहास में पीएच. डी. की उपाधि प्राप्त की। वे 1951 में सं. रा. अमेरिका गये और न्यूयार्क शहर में आईरिश-प्यूएर्टोरिकन में सहायक पादरी के पद पर पदस्थ हुए। 1956 से 1960 तक प्यूएर्टो रिको में कैथोलिक विश्वविद्यालय में वाइस रेक्टर बने, जहाँ उन्होंने अमेरिकी पादरियों के लिए लैटिन अमेरिकन संस्कृति के एक सघन प्रशिक्षण केन्द्र का आयोजन किया। वे क्यूएर्नावाका में सेंटर फॉर इंटरकल्चरल डाकुमेंटेशन (CIDOC) नामक विवादास्पद केंद्र की स्थापना के कारण विख्यात हुए, और 1964 से उन्होंने 'टेक्नालाजिकल समाज में संस्थागी वैकल्प' ('इन्स्टीट्यूशनल आल्टरनेटिव्स इन द टेक्नालाजिकल सोसाइटी") पर शोध के लिए सेमीनारों का संचालन किया, जो लैटिन अमेरिका पर विशेषतया केंद्रित थे। उनकी पहली पुस्तक 'सेलेब्रेशन ऑफ अवेरनेस', 1971 में प्रकाशित हुई। उनके अन्य प्रकाशनों में 'टूल्स फॉर कन्वाइवलिटी' और 'एनर्जी एंड इक्विटी' शामिल हैं। उनकी पुस्तक 'मेडिकल निमेसिस'' 1975 में प्रकाशित हुई।

इंदुप्रकाश कानूनगो

पूर्वग्रह, साक्षात्कार, कलावार्ता, सारिका, रविवार, आवेग, विपाशा, जमीन, पटकथा आदि प्रतिष्ठित साहित्यिक पत्रिकाओं में विश्वविख्यात विद्वानों की रचनाओं के अनुवाद प्रकाशित।

अनुक्रम

		पृष्ठ
	भूमिका	5
1	स्कूल क्यों है ? उसे बंद करो	9
2	स्कूल का प्रपंच	39
3	प्रगति का कर्मकाण्ड	50
4	संस्थायी तस्वीर	72
5	विवेकहीन सामंजस्य	88
6	ज्ञानप्राप्ति के ताने-बाने	96
7	एपिमेथियन मनुष्य का पुनर्जन्म	138

भूमिका

स्कूली-शिक्षा के बारे में सोचने-विचारने की मेरी दिलचस्पी को बढ़ाने के लिए मैं **एवरेट रेमर** का ऋणी हूँ। प्यूएर्टो रिको में 1958 में सर्वप्रथम हमारी भेंट हुई थी, उसके पूर्व तक, सारी जनता के लिए अनिवार्य स्कूलीशिक्षा के विस्तार के मूल्य पर मैंने कभी भी आशंका व्यक्त नहीं की थी। साथ-साथ विचार करते हुए हम दोनों ने अनुभव किया कि स्कूल जाने की अनिवार्यता के द्वारा अधिकांश लोगों का ज्ञानप्राप्ति का अधिकार घटता है। **सेंटर फॉर इंटर-कल्चरल डाकुमेंटेशन, क्यूएर्नावाका,** में प्रस्तुत ये निबंध जो इस पुस्तक में संग्रहीत हैं, वे उन ज्ञापन में से उपजे हैं जिसे मैंने उन्हें सौंपा था, और जिस पर 1970 में हमने बहस की थी, कि जो हमारे परिचय का तेरहवाँ वर्ष था। अंतिम अध्याय में **बेशोफेन** की कृति **मुतरेश्त (Mutterrecht)** पर एरिक फ्रॉम के साथ एक चर्चा के आधार पर बने मेरे विचार प्रस्तुत हैं।

1967 से, रेमर और मैं, सेंटर फॉर **इंटरकल्चरल** डाकुमेंटेशन, क्यूएर्नावाका, मैक्सिको, में, लगातार मिलते रहे हैं। सेंटर की संचालक, वेलेंटिन बोरेमान्स भी हमारी चर्चा में शामिल हो गयी थीं, जिन्होंने मुझसे लगातार आग्रह किया कि हम हमारे विचारों को लैटिन अमेरिका और अफ्रीका की वस्तु-स्थितियों के तईं परखें। इस पुस्तक में उनकी इस मान्यता की झलक मौजूद है, कि सिर्फ संस्थाओं की ही नहीं, बल्कि समाज के लोकाचार को भी 'स्कूलमुक्ति' (डीस्कूलिंग) जरूरी है।

स्कूल के द्वारा सार्वभौमिक शिक्षा संभव नहीं है। यह उन वैकल्पिक संस्थाओं के प्रयास से भी संभव नहीं होगी कि जो वर्तमान स्कूलों की स्टाइल के आधार पर बनें। और, अपने छात्रों के प्रति शिक्षकों के किसी नये रुख से, या शिक्षायी हार्डवेयर या सॉफ्टवेयर (कक्षाकक्ष में चाहे बेडरूम में) के प्रचुर मात्रा में उपलब्ध कर देने से, या अंततः, शिक्षाकार की जिम्मेदारी को इतना बढ़ा कर कि वह अपने छात्रों के समूचे जीवनकालों को लपेट ले, उससे भी, सार्वभौमिक शिक्षा संभव नहीं है। नयी शिक्षायी 'कुप्पियों' ('**funnels**') की ताजी खोज को उनके किसी शिक्षायी व्युत्क्रम की खोज में उलटना होगा : किसी शैक्षिक 'जाल'

('webs') की खोज में, कि जो प्रत्येक के लिए अवसर को उभार दे ताकि वह अपने जीवन के हर क्षण को ज्ञानप्राप्ति में, दूसरों से बाँटने में, और प्रेम में बदल सके। हमें आशा है, कि हमने, शिक्षा पर इस तरह की 'विपरीत' खोज करने में लगे हुए लोगों को उपयुक्त लगती अवधारणाओं में कुछ योगदान दिया है (–और उनके लिए भी कि जो अन्य स्थापित 'सेवा उद्योगों' के विकल्पों को तलाश रहे हैं)।

1970 की बसंत और ग्रीष्म ऋतुओं की हर बुधवार की सुबह, क्यूएर्नावाका में, **सेंटर फार इंटरकल्चरल डाकुमेंटेशन** में आयोजित कार्यक्रमों में उपस्थित लोगों के समक्ष, मैंने इस पुस्तक के विभिन्न निबंधों को पढ़ा था। अनेक श्रोताओं ने सुझाव दिये और आलोचनाएँ की। उनमें से कईयों के विचारों की झलक इन पृष्ठों में दिखाई देगी; विशेषकर पाउलो फ्रेरे, पीटर बर्जर और जोज़ मारिआ बुलनेज, साथ-ही-साथ जोसेफ फिट्ज़पैट्रिक, जॉन होल्ट, एंजल क्विन्तेरो, रेमन ऐलेन, फ्रेड गुडमन, गेरहार्ड लेडनर, डिडिएर पियेलु, जोएल स्प्रिंग, अगस्टो सालाज़ार बांडी और डेनिस सल्लिवान के नाम उल्लेखनीय हैं। मेरे आलोचकों में, पाल गुडमन की समीक्षा क्रांतिकारी थी, जिसने मुझे पुनर्विचार करने के लिये बाध्य किया। रॉबर्ट सिलवर्स ने, अध्याय 1, 3, और 6 पर लिखी गई प्रभावशाली संपादकीय टिप्पणियों से मुझे सहयोग दिया जो **न्यूयार्क रिव्यू ऑफ बुक्स** में प्रकाशित हुईं थीं।

रेमर ने और मैंने, हम दोनों के सम्मिलित अनुसंधान के अलग-अलग दृष्टिकोणों को प्रकाशित करना तय किया है। वह एक अत्यंत बोधगम्य और दस्तावेज़ी-प्रमाण से युक्त अपने मत को प्रकट करने के काम में लगे हुए हैं, जो बाद के कई महीनों तक विचारकों के समक्ष आलोचनात्मक बहस के दौर से गुज़रती हुई अंततः डबलडे एंड कंपनी और पैंग्विन एजुकेशन के द्वारा 'स्कूल इज़ डेड' के टाइटिल से प्रकाशित होगी। डेनिज़ सुल्लिवान ने रेमर और मेरी चर्चाओं के दौरान सचिव का काम किया था; वे सं. रा. अमेरिका में स्कूली-शिक्षा (पब्लिक स्कूलिंग) पर आजकल चल रही बहस के संदर्भ में मेरे विचार को प्रस्तुत करने के लिए एक पुस्तक तैयार कर रहे हैं। निबंधों के इस ग्रंथ को अब मैं इस उम्मीद के साथ प्रस्तुत करता हूं कि वह **सेंटर फॉर इंटरकल्चरल डाकुमेंटेशन, क्यूएर्नावाका** में **'शिक्षा में विकल्प' ('Alternatives in Education')** पर

1972 और 1973 के लिए आयोजित सेमिनार के सत्रों में कुछेक अतिरिक्त आलोचनात्मक विचारों को उकसायेंगे।

कि जब यह परिकल्पना गले उतर जाये कि समाज को स्कूलमुक्त किया जा सकता है, तब, मेरा इरादा है कि कुछेक जटिल मुद्दों पर बहस करूँ जो उन मानकों की खोज के लिए उठाये जाते हैं, जो हमें उन संस्थाओं को पहचानने में मदद कर सकें, जो विकास की कद्र इसलिए करती हैं कि वे किसी स्कूलमुक्त परिवेश में ज्ञानप्राप्ति का समर्थन करती हैं; और, उन मुद्दों पर बहस करके मैं उन वैयक्तिक उद्देश्यों को स्पष्ट करना चाहता हूं जो सेवा-उद्योगों (**service industries**) के प्रभुत्व में चल रही अर्थ-व्यवस्था के विपरीत किसी **'अवकाश के युग'** [**'Age of Leisure' (Schole)**] के आगमन को प्रोत्साहित करें।

नवंबर 1970

[भूमिका में उल्लेखित सभी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं]

स्कूल क्यों है ? उसे भंग करो

अनेक छात्र, विशेषकर गरीब छात्र, अपने सहजबोध से ही जानते है कि स्कूल उनके लिए क्या करते हैं। वे उन्हें क्रियाविधि और सारभूत-वस्तु को अस्त-व्यस्त करना सिखाते हैं। जैसे ही वे बड़बड़ा जाती है, एक नया तर्कशास्त्र उभरता है : जितना ज्यादा इलाज होगा, उतने बेहतर परिणाम होंगे ; या, सीढ़ियां चढ़ते जाने से सफलता हासिल होती है। "स्कूलमय" होकर छात्र "ज्ञान प्राप्ति" को "शिक्षण" में, "विद्या प्राप्त करने" को "दर्जा पास करने" में, "क्षमता हासिल करने" को "डिग्री-सर्टिफिकेट लेने" में, और "कुछ नया कह पाने की योग्यता हासिल करने" को "वाक्चातुर्य बनाने" में भरमा देता है। "स्कूलमय होकर उसका कल्पना भाव "मूल्य" के स्थान पर "नौकरी" को मान्यता देता है। "स्वास्थ्य की देखभाल के बदले "डॉक्टरी चिकित्सा" को, सामुदायिक जीवन संवारने" के बदले "समाज सेवा" को, "हिफाजत" के बदले "पुलिस से बचाव" को, "राष्ट्रीय सुरक्षा" के बदले "सैन्य शक्ति संतुलन" को, और "उत्पादक काम" के बदले "अंधाधुंध औद्योगिकरण को मिथ्या मान्यता मिलने लगती है। स्वास्थ्य, ज्ञान, मानवी-गौरव, स्वतंत्रता और रचनात्मक उद्यम से इस तरह परिभाषित कर दिये गये हैं, जैसे कि वे बहुत कुछ सेवा-संस्थाओं के ही अनुष्ठान हों जो उन प्रयोजनों (स्वास्थ, ज्ञान, आदि) की खिदमत करने का दावा भरती हैं, और उनकी प्रगति स्कूलों, अस्पतालों और वैसी ही अन्य सम्बद्ध एजेन्सियों के प्रबन्धन के लिए अधिक-से-अधिक धन साधन जुटा दिये जाने पर निर्भर बना दी गयी है।

अपने इन निबन्धों में, मैं यह बताऊँगा कि मूल्यों का संस्थावीकरण अप-रिहार्यतः भौतिक प्रदूषण, सामाजिक ध्रुवीकरण और मनोवैज्ञानिक नपुंसकता की ओर अग्रसर होता है जो कि विश्वव्यापी अधःपतन और आधुनिकीकरण— से जन्य दुर्दशा की प्रक्रिया के तीन आयाम हैं। मैं इस बात की व्याख्या करूंगा कि अधःपतन की यह प्रक्रिया कैसे तब तेज हो जाती है कि जब अ-मूर्त आवश्यकताएं पार्थिव-वस्तुओं की मांगों में तब्दील होने लगती हैं ; कि जब स्वास्थ्य, शिक्षा, निजी पर्यटन, कुशल-मंगल या मानसिक सांत्वना इस तरह नियत होने लगती है

जैसे कि वे संस्थायी-सेवाओं या "संस्थायी-उपचारों के परिणाम स्वरूप है। यह व्याख्या मैं इसलिए कर रहा हूँ क्योंकि मेरी समझ से भविष्य के विषय में आजकल किये जा रहे शोधकार्यों में मूल्यों को ज्यादा-से-ज्यादा संस्थायी बनाने की वकालात करने का रुझान है और इसलिए भी कि हमें उन परिस्थितियों को स्पष्ट करना चाहिये जिनसे उसके बिलकुल विपरीत घटना घटने का रास्ता निकल सके। हमें टेक्नालॉजी के संभाव्य उपयोग के शोध करने की जरूरत है ताकि ऐसी संस्थाएँ रची जा सकें जो मानवी, रचनात्मक, और स्वायत्त परस्पर-क्रिया की खिदमत करें और ऐसे मूल्यों को उभारें जो पूरी तरह से टेक्नाक्रेटों के कब्जे में न रह सकें। हमें प्रचलित भविष्यवाद (फ्यूचरोलॉजी) के खिलाफ मोर्चाबंद शोध की जरूरत है।

मैं मनुष्य के स्वभाव और आधुनिक संस्थाओं के स्वभाव की अन्योन्य परिभाषा—जो हमारी विश्वदृष्टि और भाषा की विशिष्टता दिखाती है पर खुली बहस करना चाहता हूँ। इसके लिए मैंने स्कूल को दृष्टांत-स्वरूप चुना है, याने कि मैं संघबद्ध राज्य की अन्य नौकरशाही एजेंसियों (दि पार्टी, दि आर्मी, दि मीडिया) के बाबत् छिटपुट चर्चा ही करूंगा; यद्यपि जिस तरह स्कूल के प्रच्छन्न पाठ्यक्रम के मेरे इस विश्लेषण से उजागर होगा कि समाज में से स्कूल को भंग कर देने पर सार्वजनिक शिक्षा को लाभ पहुँचेगा, अतः जाहिर है कि उसी तरह पारिवारिक जीवन, राजनीति, सुरक्षा, आस्था और संचार को भी उनसे संबंधित संस्थाओं को भंग करने से लाभ पहुँचेगा।

अपने विश्लेषण के इस प्रथम निबन्ध में, मैं यह दर्शाने का प्रयास करूंगा कि स्कूलमय-समाज में से स्कूल को भंग कर देने का क्या अर्थ है। इस प्रक्रिया से सम्बन्धित, आगामी अध्यायों में प्रस्तुत, पाँच पहलुओं को मैंने क्यों चुना यह बात उपर्युक्त संदर्भ में आसानी से समझी जा सकती है।

महज शिक्षा ही नहीं सामाजिक यथार्थ ही स्कूलमय हो गया है। किसी एक प्रांत के भीतर, स्कूली पढ़ाई में, सम्पन्न और गरीब दोनों पर ही, लगभग बराबर-बराबर व्यय होता है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के बीस शहरों में से किसी भी एक शहर की गन्दी बस्तियों (स्लम्स) और सम्पन्न-उपनगरों, दोनों में ही, प्रतिवर्ष प्रति छात्र व्यय करीब-करीब समान है—बल्कि कहीं-कहीं यह गरीब के

ही पक्ष में है।* धनी और गरीब दोनों ही, स्कूलों एवं अस्पतालों पर, एक जैसे ही आश्रित हैं जो उनकी जिंदगियों को निर्देशित करते हैं, उनकी विश्वदृष्टि रचते हैं, और उनके लिए जायज और नाजायज को परिभाषित करते हैं। दोनों ही स्वयं ही खुद की चिकित्सा कर लेने का गैरजिम्मेदाराना मानते हैं, स्वयं ही शिक्षा प्राप्त करने में यकीन-नहीं करते, और शासन के द्वारा सामुदायिक संस्थाओं को धन नहीं दिये जाने को किसी तरह का आक्रमण या नैतिक-विध्वंस मानते हैं। संस्थायी प्रबन्ध पर टिके होने से, दोनों ही समूहों को, वैयक्तिक उपलब्धियों के लिए शंकालु बना दिया है: वैयक्तिक और सामुदायिक भरोसे का क्रमशः ह्रास होते जाना उत्तर-पूर्व ब्राजील की अपेक्षा वेस्टचेस्टर (अमेरिका) में कुछ ज्यादा ही है। सभी जगह सिर्फ शिक्षा को ही नहीं बल्कि समूचे समाज को "डी स्कूलिंग" (स्कूल से मुक्त करने) की जरूरत है।

लोकहितकारी नौकरशाहियाँ सामाजिक कल्पनाओं के ऊपर व्यावसायिक, राजनीतिक और आर्थिक एकाधिकार का दावा करती हुई ये प्रतिमान तय करती हैं कि क्या मूल्यवान है और क्या व्यवहार्य है। यही एकाधिकार गरीबी के आधुनिकीकरण की जड़ में है। हर साधारण जरूरत, जिसका कोई संस्थायी हल खोजा गया, उसने गरीब के किसी नये वर्ग को जन्म दिया और गरीबी की कोई नयी परिभाषा दी। दस वर्ष पूर्व मैक्सिको में अपने ही घर में जन्म लेना और मरना और अपने ही दोस्तों द्वारा दफना दिया जाना सामान्य बात थी। केवल आत्मा की जरूरतों का ख्याल चर्च रखती थी। और अब जीवन का अपने ही घर में आरम्भ होना और समाप्त होना या तो दरिद्रता के या विशेष सुविधा के लक्षण हैं। जन्मना और मरना डॉक्टरों और व्यावसायिकों के संस्थायी प्रबन्ध के अन्तर्गत आ गया है।

जब बुनियादी आवश्यकताएँ किसी समाज के द्वारा वैज्ञानिक आधार पर उत्पादित वस्तुओं की मांगों में तब्दील कर दी जाती हैं, तब गरीबी उन प्रतिमानों से परिभाषित होने लगती है जिन्हें टेक्नोक्रेट अपनी मर्जी से अदलबदल

---

* संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के शिक्षा विभाग के कार्यालय और प्रोग्राम एवं योजना के मूल्यांकन के कार्यालय की जून 1969 में प्रकाशित रिपोर्ट के आधार पर "प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा पर व्यय की प्रवृत्तियाँ : मुख्य नगर और उपनगर और उपनगर के दरम्यान तुलना, 1965 से 1968"—

(प्रकाशक पेनरोज बी, जैक्सन)

सकते हैं। तब गरीबी की संज्ञा में वे आते हैं जो किसी खास प्रसंग में खपत के किसी विज्ञापित प्रतिमान के नीचे गिरे हुए होते हैं। मैक्सिको में गरीब वे हैं जो तीन वर्ष तक स्कूल में पढ़ नहीं पाते, और न्यूयार्क में गरीब वे हैं जो बारह वर्ष तक स्कूल में पढ़ नहीं पाते।

गरीब सदैव ही सामाजिक (स्तर पर अतिहीन रहे हैं। संस्थायी प्रबन्ध पर बढ़ती हुई निर्भरता उनकी विवशता में एक नया आयाम जोड़ती है— **मानसिक नपुंसकता,** स्वयं अपने लिए व्यवस्था करने की अयोग्यता एंडीज (दक्षिण अमेरिका) के ऊँचे पठारों में बसे किसान निश्चित ही जमींदारों और बनियों के द्वारा शोषित होते हैं— लेकिन लिमा (पेरू की राजधानी) में आ बसने पर तो वे उस शोषण के साथ-साथ राजनीतिक स्वामियों पर निर्भर हो जाते हैं तथा स्कूली शिक्षा की खामी की वजह से बेरोजगार रहते हैं। आधुनिकीकृत गरीबी "वैयक्तिक पौरुष की खामी" को "परिस्थितियों पर पकड़ की कमी" के साथ जोड़ देती है। गरीबी का यह आधुनिकीकरण विश्वव्यापी प्रपंच और समसामयिक अर्थविकास की जड़ में बसा हुआ है। निसंदेह, वह धनी और गरीब देशों में, अलग-अलग शक्लों में दिखाई देता है।

कदाचित् वह अमेरिकी नगरों में अत्यंत तीव्रता के महसूस किया जाता है। उससे ज्यादा बड़ी कीमत पर गरीबी का उपचार और कहीं नहीं होता। वहाँ ही गरीबी का उपचार सर्वाधिक पराश्रय, गुस्सा, कुंठा और अतिरिक्त मांगें उत्पन्न करता है, और वहां ही यह बखूबी जाहिर है कि गरीबी आधुनिकीकृत हो जाने पर - सिर्फ डालरों से ही अपना इलाज करवाने के प्रतिरोध में हो गयी है और उसे किसी संस्थायी क्रांति (इंस्टीट्यूशनल रिवोलूशन) की जरूरत है।

आज अमेरिका में काले ही नहीं, प्रवासी भी किसी ऐसे ऊँचे स्तर के व्यावसायिक उपचार (प्रोफेशनल ट्रीटमेंट) की आकांक्षा रख सकते हैं जिसे दो पीढ़ियों पूर्व सोचा भी नहीं जा सकता था, और जो विश्व के अधिकांश लोगों के लिए एकदम विलक्षण है। उदाहरणार्थ अमेरिकी गरीब अपने बच्चों पर, जब तक वे सत्रह वर्ष के न हो जाएँ उन्हें घर से स्कूल सुरक्षित लाने ले जाने के लिए निगरानी अफसर (ट्रेंट आफिसर) नियुक्त करने का खर्च उठा सकते हैं, या कि बीमार पड़ने पर ऐसे अस्पताल में दाखिल होकर डाक्टरी खर्च उठा सकते हैं जो प्रतिदिन साठ डालर होता है—जो संसार के अधिकांश लोगों के लिए तीन माह की पगार के समकक्ष होगा। लेकिन वैसी हिफाजत उन्हें अतिरिक्त उपचार पर ही

निर्भर करवाती है, और अपनी ही जिंदगियों को अपने ही समुदायों के अनुभवों और स्रोतों के भीतर ही संयोजित करने में अधिकाधिक अयोग्य बनाती जाती है।

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के गरीब उस विकट दुर्दशा का आभास देने वाली अद्वितीय स्थिति का ऐसा दृष्टांत हैं जिससे आधुनिकीकृत होती हुई दुनिया के समस्त गरीबों को चेतावनी मिलती है। उनसे यह प्रकट होता है कि जैसे ही लोकहितकारी संस्थाओं (वेलफेयर इंस्टीट्यूशन्स) की व्यावसायिक महंतशाहियां समाज को यह मंजूर करवा दें कि उनकी पुरोहिताई नैतिक रूप से अनिवार्य है, तब बेइंतहा डालरों का बहाव भी इन संस्थाओं में अंतर्निहित विनाशकारिता को हटा नहीं सकता। अमेरिकी शहरों के भीतरी इलाकों के गरीब, अपने ही अनुभव से, उस भ्रांति को प्रदर्शित करते हैं जिस पर "स्कूलबद्ध" समाज के अंतर्गत सामाजिक विधि-व्यवस्था खड़ी हुई है।

यदि सुप्रीम कोर्ट जस्टिस विलियम ओ. डगलस के अनुसार, "किसी संस्था को स्थापित करने का एकमात्र तरीका उसकी समुचित आर्थिक व्यवस्था करना है", तो इसकी उपसिद्धि भी सही है, कि स्वास्थ्य, शिक्षा और लोकहितकारी कार्यों में लगी संस्थाओं में से डालरों को बाहर धकेल कर ही उनके विकलांगी दोगले-प्रभावों (साइड-इफेक्ट) के परिणामस्वरूप बढ़ते दारिद्र्य को रोका जा सकता है।

सरकारी सहायता कार्यक्रमों (फेडरल ऐड प्रोग्राम) का मूल्यांकन करते समय उक्त बात को जरूर ध्यान में रखना होगा। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में 1965 से 1968 तक देशभर के छह करोड़ बच्चों के पिछड़ेपन को दूर करने के लिए तीन सौ करोड़ डालर खर्च किये गये। इस प्रोग्राम को "टाइटल वन" के नाम से जाना जाता है। शिक्षा के क्षेत्र में किया गया यह सर्वाधिक लागत वाला कार्यक्रम माना जाता है। इतना बड़ा कार्यक्रम कहीं भी कभी भी नहीं किया गया; फिर भी उन "पिछड़े बच्चों" में कोई उल्लेखनीय सुधार नजर नहीं आया, बल्कि मध्यवर्गी परिवारों के उनके सहपाठी बच्चों की तुलना में वे ज्यादा ही पिछड़ गये। इसके अतिरिक्त उस कार्यक्रम के दौरान प्रोफेशनल शिक्षाकारों को ज्ञात हुआ कि वैसे ही एक करोड़ बच्चे और भी हैं जो आर्थिक और शैक्षिक अड़चन के कारण दुख झेल रहे हैं। यानेकि ज्यादा बड़ी सरकारी निधि (फेडरल फंड) की मांग का मुद्दा तैयार!

इतने खर्चीले इलाज के बावजूद गरीब की शिक्षा के सुधार की सम्पूर्ण निष्फलता को तीन तरीके से व्याख्या की जा सकती है :

(1) साठ लाख बच्चों के शैक्षिक स्तर को पर्याप्त मात्रा में सुधारने के लिए तीन सौ करोड़ डॉलर की राशि अपर्याप्त है ;

या

(2) निर्धारित राशि को सक्षमता से व्यय नहीं किया गया; दर असल में भिन्न-भिन्न पाठ्यक्रम लागू करने की, बेहतर प्रशासन बनाने की, गरीब बालक पर ज्यादा बड़ी धनराशि लगाने की, और गहन अन्वेषण की जरूरत है ताकि करिश्मा हो जाये ।

या

(3) शिक्षा के लिए स्कूल पर निर्भर रह कर शैक्षिक पिछड़ेपन को दूर नहीं किया जा सकता ।

पहली बात उस वक्त तक सच है जब तक कि धनराशि स्कूल बजट के अंतर्गत खर्च की जाती रही । वह धनराशि स्कूलों तक गयी जरूर जहाँ पर कि अधिकांश बच्चे पिछड़े थे लेकिन उसे केवल गरीब बच्चों पर ही व्यय नहीं किया गया । वे बच्चे जिनके लिए वह धनराशि दी गयी थी, वे स्कूलों में दाखिल सारे बच्चों की संख्या के आधे थे, लेकिन स्कूलों ने उस सरकारी सहायता-राशि को अपने-अपने पूरे बजट में जोड़ लिया । अतः शिक्षा कार्य के अलावा धनराशि को भवन आदि के रख-रखाव, सामाजिक गतिविधियों और नैतिक शिक्षण पर भी खर्च किया गया जो उन स्कूलों के भौतिक-संसाधनों, पाठ्यक्रमों, शिक्षकों, प्रशासकों और अन्य प्रमुख घटकों के ऊपर किये जाने वाले नियमित व्यय के साथ जटिलता से गुंथे हुए हैं और इसलिए समूचे बजट के अंग हैं ।

सहायता-राशि का स्कूलों के द्वारा गलत अनुपात में वितरण हुआ क्योंकि आर्थिक रूप से बेहतर स्थिति वाले बच्चों को ही अधिक राशि मिली जो गरीब बच्चों के साथ पढ़ने की "मजबूरी" के कारण "पिछड़" रहे थे ! हद-से-हद यह हुआ कि एक गरीब बालक की शैक्षिक प्रगति के लिए निर्धारित प्रति डालर का एक अल्पांश ही स्कूल-बजट के जरिये उस तक पहुंच पाया ।

दूसरी बात भी उतनी ही सही मानी जा सकती है और वह यह कि धन-राशि का सक्षमता से उपयोग नहीं हुआ । लेकिन स्कूली प्रणाली से ज्यादा अक्षम दूसरी कोई नहीं । स्कूल अपनी स्वयं की संरचना में ही पिछड़ों को किसी विशेष-सुविधा के दिये जाने का प्रतिरोध करते हैं । अधिक धनराशि लगाकर विशेष

पाठ्यक्रम जारी करना, अतिरिक्त कक्षाएँ लगाना या देर तक पढ़ाने की योजनाएँ लागू करना ज्यादा ही भेदभाव उत्पन्न करते हैं ।

करदाता अभी इस बात के आदी नहीं हुए हैं कि वे "डिपार्टमेंट आफ हेल्थ एजुकेशन एण्ड वेलफेअर" के तीन सौ करोड़ डालरों को ऐसे डूबने दें जैसे कि वे "पेंटागान" (अमेरिका के विशेष प्रतिरक्षा-विभाग) के हों । चलिये मान लें कि वर्तमान प्रशासन शिक्षाचारों की नाराजगी को बर्दाश्त कर ले । मध्य वर्गी अमेरिकनों को तो इस कार्यक्रम के बन्द करने से कोई फर्क नहीं पड़ेगा । गरीब माँ बाप अवश्य ही प्रभावित महसूस कर सकते हैं, लेकिन वे भी अपने बच्चों के लिए निर्धारित धनराशि पर नियंत्रण (कंट्रोल) की माँग कर ही रहे हैं । बजट को संयमित कर अधिक लाभ लेने (शायद !) का एक तर्कसंगत तरीका है "ट्यूशन ग्रांट्स की प्रणाली" (जो कि, मिल्टन फ्रीडमेन आदि द्वारा सुझायी गयी) ; माने कि, धनराशि कृपापात्र बालक तक पहुंचा दी जाये, तो उनको (पिछड़ों को) बराबरी का बेहतर व्यवहार तो मिलेगा, यद्यपि उससे भी सामाजिक अधिकारों की बराबरी हासिल करने में कुछ भी प्रगति नहीं होगी ।

वस्तुतः बराबरी के गुणों से सम्पन्न स्कूलों में भी गरीब बच्चा अमीर बच्चे की बराबरी नहीं कर सकता । वे चाहे समान स्कूलों में दाखिल हों, और बराबरी की उम्र में भर्ती हों, फिर भी गरीब बच्चे उन तमाम शैक्षिक अवसरों से वंचित ही रहेंगे जो संयोगवश ही मध्यवर्गी बच्चों को उपलब्ध है । उन बच्चों के लिए घरों में ही बेहतर वार्तालाप और पुस्तकें मौजूद हैं, छुट्टियों में यात्राएँ हैं, अपने ही भीतर बसा हुआ स्वाभिमानी भाव है, और वे उन गुणों को स्कूलों में भी, और बाहर भी भजमाते रहते हैं । अतः गरीब छात्र तब तक पिछड़ा ही रहेगा जब तक कि वह अपनी तरक्की या ज्ञान-प्राप्ति के लिए स्कूल पर निर्भर रहेगा । गरीबों को सहायता राशि ज्ञान हासिल करने के लिए चाहिये, उन पर आरोपित असंगत पिछड़ेपन के इलाज के लिए सर्टिफिकेट प्राप्त करने के लिए नहीं ।

यह बात गरीब देशों में उतनी ही सच है जितनी अमीर देशों में, लेकिन वहाँ वह दूसरी शक्ल में दिखाई देती है । गरीब देशों में आधुनिकीकृत गरीबी ज्यादा लोगों पर खूब जाहिराना असर डालती है हालांकि—अभी तक तो वह असर ज्यादा सतही ही रहा है । लेटिन अमेरिका के सभी बच्चों में से तीन-चौथाई (3/4) बच्चे पाँचवे दर्जे तक पहुंचने के पूर्व ही स्कूल छोड़ देते हैं । किन्तु इसी

कारण ये "भगोड़े" उतनी दुर्गति को प्राप्त नहीं होते जितने वे संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में होते हैं।

आज ऐसे देश बहुत कम बचे हैं जो उस परंपरागत गरीबी के मारे हुए हों जो स्थायी थी और कम घातक थी। लातिनी अमेरिका के अधिकांश देश आर्थिक विकास और प्रतिस्पर्धात्मक उपभोग के "उड़ान-क्षण" तक जा पहुंचे हैं, और परिणामस्वरूप आधुनिकीकृत-गरीबी की ओर उन्मुख हैं। उनके नागरिकों ने गरीब बने रह कर धनी कैसा दिखना सीख लिया है। उनके कानूनों ने छह से दस वर्ष तक स्कूली शिक्षा का अध्ययन अनिवार्य कर दिया है। केवल अर्जेन्टीना में ही नहीं अपितु मैक्सिको या ब्राजील में भी एक औसत नागरिक, उपयुक्त शिक्षा को, उत्तरी-अमेरिकी प्रतिमान से ही जांचता है जबकि वैसी लम्बी शिक्षा को हासिल करने की गुंजाइश उनके देश के छोटे-से हिस्से को ही उपलब्ध है। इन देशों के अधिकांश नागरिकों के बच्चे स्कूल में सिर्फ टंगे हुए हैं, अर्थात बेहतर स्कूली-शिक्षा प्राप्त कर रहे बच्चों के आगे हीन भावना भरे हुए क-ख-ग कर रहे हैं। स्कूल के प्रति उनमें अंधभक्ति होने के कारण वे दो तरह से शोषण के शिकार होते हैं : पहला, कि सुविधा प्राप्त चंद लोगों के वास्ते ही सार्वजनिक धनराशि का अबंटन होता जाता है, और दूसरा, कि ज्यादा लोग सामाजिक-नियंत्रण (सोशल-कंट्रोल) को स्वीकार करते जाते हैं।

यह कितना बड़ा विरोधाभास है कि उन्हीं देशों में यह अन्ध-विश्वास मजबूती से जकड़ गया है जहां न केवल बहुत थोड़े से ही लोग स्कूलों से शिक्षा प्राप्त कर पाये हैं बल्कि बहुत थोड़े ही उस तरह शिक्षा प्राप्त कर सकेंगे, यद्यपि इसके बावजूद लातिनी-अमेरिका में अधिकांश माता-पिता और बच्चे शिक्षा प्राप्त करने के अन्य तरीकों को अभी भी अपना सकते हैं। तुलनात्मक स्तर पर, इन गरीब देशों में स्कूलों और शिक्षकों पर राष्ट्रीय धन के खर्च का प्रतिशत, धनी देशों के खर्च के प्रतिशत की तुलना में ज्यादा ही होगा, लेकिन अपनी आबादी के अधिकांश बच्चों को चौथे दर्जे तक की भी स्कूली-पढ़ाई देने के लिए वह खर्च अपर्याप्त है। फीदेल कास्त्रो इस तरह से बोल रहे हैं कि जैसे वे डी-स्कूलिंग (स्कूल भंग करने) की दिशा में जा रहे हैं क्योंकि वे वादा करते हैं कि 1980 तक क्यूबा अपने विश्वविद्यालय को भंग कर देगा और देश की समूची जिन्दगी ही शैक्षिक अनुभूति होगी। लेकिन 'ग्रामर स्कूल' और 'हाई स्कूल' के स्तर तक क्यूबा में वही हो रहा है जो अन्य लेटिन अमेरिकी देशों में भी हो रहा

है और उनके लिए एक ऐसे काल से गुजरना अनिवार्य लक्ष्य है जो "स्कूल युग" के नाम से परिभाषित है और जो फिलहाल सिर्फ साधनों की अस्थायी कमी के रूप में माना जा रहा है।

संसाधन बढ़ाकर अशिक्षा का इलाज करने की जुड़वां धोखेबाजियां, जैसी कि सं. रा. अमेरिका में वास्तव में उपलब्ध करा दी गयी—और जैसी कि लातिनी अमेरिका में महज वादे के स्तर पर ही है—ये दोनों एक दूसरे की पूरक हैं। उत्तरी अमेरिकी गरीब उसी बारह-वर्षीय इलाज से "अपंग" किये जा रहे हैं कि जिसके अभाव के कारण दक्षिणी अमेरिकी गरीब पर "असीम पिछड़े" की छाप लगती है। उत्तरी अमेरिका में भी और लातिनी-अमेरिका में भी स्कूल में अनिवार्य भर्ती से गरीबों को बराबरी नहीं मिलती। लेकिन दोनों स्थानों पर, स्कूल का होना ही गरीबों में स्वयं ज्ञान हासिल कर लेने की अपनी योग्यता को तोड़ता है और उनमें "अपंगता" भरता है। सारी दुनिया में समाज पर स्कूल का प्रभाव शिक्षा विरोधी है : स्कूल एक ऐसी संस्था के रूप में चीन्हा जाता है जैसे कि वह शिक्षा का विशेषज्ञ हो। अनेक लोगों के द्वारा स्कूल की विफलताओं को किसी ऐसे प्रमाण के तौर पर माना गया है कि वह बहुत मँहगा, बहुत जटिल, सदैव रहस्यमय और अक्सर ही बिलकुल असंभव प्रयास है। स्कूल शिक्षा के लिए उपलब्ध समस्त धन, सारे विद्वान और समूची सामाजिक सद्भावना को तो हड़प जाता है ही, साथ ही अपने अतिरिक्त, अन्य संस्थाओं को शैक्षिक-उद्यम करने देने से भी रोकता है। काम, फुर्सत, राजनीति, नागरी जीवन और पारिवारिक-जिंदगी भी, स्वयं शिक्षा के स्रोत बनने के बजाय स्कूलों पर निर्भर होकर उन्हीं के ढर्राशाही आचार-व्यवहार और गढ़े-गढ़ाये ज्ञान को ढो रहे हैं। जिसका परिणाम यह हुआ है कि स्कूल तथा स्कूल आश्रित संस्थाएँ, दोनों ही एकसाथ घटिया हो गयी हैं।

सं. रा. अमेरिका में स्कूली शिक्षण की प्रतिव्यक्ति खर्च की दर उतनी ही तेजी से बढ़ी है जितनी कि प्रतिव्यक्ति मेडिकल चिकित्सा के खर्च की दर बढ़ी। किन्तु डॉक्टरों और शिक्षकों, दोनों के द्वारा ही बढ़े हुए इलाज के बावजूद भी गिरे हुए नतीजे निकले हैं। पिछले चालीस वर्षों में पैंतालीस वर्ष से ऊपर की आयु के लोगों पर मेडिकल चिकित्सा का खर्च अनेक बार दुगने-पर-दुगना किया गया लेकिन जीवन-संभावना (लाइफ एक्सपेक्टेंसी) सिर्फ तीन प्रतिशत ही बढ़ी। शैक्षिक-खर्चों में की गई वृद्धि से तो ज्यादा ही विकट परिणाम निकले हैं ; नहीं

तो प्रेजिडेंट निक्सन को व्यग्र होकर 1970 के वसंत में यह वादा करने की ज़रूरत नहीं पड़ती कि प्रत्येक बालक को शीघ्र ही एक अधिकार मिलेगा : स्कूल छोड़ने के पूर्व "पढ़ना आने का अधिकार" ("राइट टु रीड")।

सं. रा. अमेरिका के सारे लोगों को, शिक्षाविदों के अनुसार 'ग्रामर स्कूल' और 'हाईस्कूल' में समान शिक्षा देने के लिए, आठ हजार करोड़ डालर प्रति वर्ष की जरूरत लगेगी। यह अनुमान आज के बजट प्रावधान (तीन हजार छह सौ करोड़ डालर प्रतिवर्ष) की तुलना में उसके दुगने से भी ज्यादा है। डिपार्टमेंट ऑफ हेल्थ, एजुकेशन एण्ड वेलफेअर और फ्लोरिडा विश्वविद्यालय द्वारा स्वतंत्र रूप से लगाये गये अनुमान के अनुसार 1974 तक आपेक्षिक आंकड़ा दस हजार सात सौ करोड़ डालर होगा (सरकार द्वारा प्रोपोजित चार हजार पांच सौ करोड़ डालर के स्थान पर), और इन आंकड़ों में तथाकथित "उच्च शिक्षा" पर होने वाला भीषण व्यय शामिल नहीं है जिसके लिए ज्यादा बड़ी राशि की मांग तेज़ी से बढ़ रही है। सं. रा. अमेरिका ने 1969 में अपने प्रतिरक्षा विभाग पर (वियतनाम युद्ध में लगे खर्च समेत) आठ हजार करोड़ डालर व्यय किये, अत: जाहिर है कि वह अपनी पूरी आबादी को बराबरी वाले स्कूल उपलब्ध करा देने के मामले में अत्यंत गरीब ही है। स्कूली शिक्षा व खर्च के लिए बनी राष्ट्रपति की सलाहकार समिति को इस बढ़ती हुई आर्थिक मांग के समर्थन या काट-छांट के बजाय यह सिफारिश करना चाहिये कि इसे समूचा ही रद्द किया जा सकता है।

एक-समान अनिवार्य स्कूली शिक्षा (इक्वल आब्लिगेटरी स्कूलिंग) आर्थिक स्तर पर बिलकुल असाध्य मान ली जानी चाहिये। लातिनी अमेरिका में प्रत्येक ग्रेजुएट विद्यार्थी पर मध्यवर्ती नागरिक (सर्वाधिक गरीब और सर्वाधिक धनी के बीच के औसत नागरिक) पर किये जा रहे खर्च की तुलना में 350 से लगाकर 1500 गुना अधिक खर्च हो रहा है। सं. रा. अमेरिका में विसंगति कम होगी लेकिन भेद बहुत तीखा है। सबसे धनी माता-पिता (जो कुल आबादी का लगभग 10 प्रतिशत होंगे) अपने बच्चों के लिए प्रायवेट शिक्षा के बंदोबस्त का खर्च उठा सकते हैं और उन्हें फाउंडेशन अनुदानों का लाभ भी दिला सकते हैं, और इनके अतिरिक्त सार्वजनिक धन के प्रति-व्यक्ति औसत का दस गुना धन भी अपने लिए खींच लेते हैं (सर्वाधिक गरीब बच्चों जो कि आबादी के दस प्रतिशत हैं—पर सार्वजनिक धन में से किये जा रहे प्रति व्यक्ति औसत खर्च की तुलना में)। इसके प्रमुख कारण ये हैं कि धनी बच्चे स्कूल में लम्बे काल तक रहते ही हैं, किसी भी विश्वविद्यालय में एक ही वर्ष का प्रति व्यक्ति खर्च हाइस्कूली खर्च की

तुलना में बहुत भारी होता है, और अनेक प्रायवेट विश्वविद्यालय-अपरोक्ष रूप से तो निश्चय ही—करों से सींचे हुए सार्वजनिक धन पर ही निर्भर रहते हैं।

अनिवार्य स्कूली-शिक्षा से सामाजिक ध्रुवीकरण होता ही है; और यह संसार के राष्ट्रों में अंतर्राष्ट्रीय जाति प्रथा के अनुसार ऊँच-नीच भी बनाती है। जातियों की तरह राष्ट्रों का मूल्यांकन किया जाता है जिनका शैक्षिक गौरव उनके नागरिकों की प्राप्त स्कूली शिक्षा के औसत वर्षों से निर्धारित होता है—एक ऐसा आकलन जो प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय उत्पादन के लिए प्रयुक्त होता है, और इसलिए यह अतिशय पीड़ादायक है।

स्कूलों का विरोधाभास बिलकुल स्पष्ट है। उनके लिए बढ़ाया जाता हुआ खर्च उनकी विनाशकारिता को, स्वदेश में भी और विदेश में भी, ज्यादा भड़काता है। इस विरोधाभास को सार्वजनिक मुद्दा बनाना चाहिये। अब यह सर्वमान्य तथ्य है, कि यदि हम भौतिक-वस्तुओं के उत्पादन के प्रचलित रुख को नहीं उलटें तो, बायोकेमिकल प्रदूषण के द्वारा प्राकृतिक पर्यावरण शीघ्र नष्ट हो जायेगा। यह भी भलीभांति समझ लेना चाहिये कि सामाजिक और व्यक्तिगत जिंदगी को "हेल्थ एजुकेशन और वेलफेअर" के प्रदूषण—जो वेलफेअर के अनिवार्य (आब्लिगेटरी) और प्रतिस्पर्धात्मक उपभोग का आनुषंगिक परिणाम है— से भी उतना ही बड़ा खतरा है।

स्कूलों की वृद्धि उतनी ही विनाशकारी है जितनी शस्त्रों की वृद्धि है, हालांकि वह दिखाई नहीं देती। सारे संसार में "स्कूली शिक्षा खर्च" सकल राष्ट्रीय उत्पादन की दर से भी ज्यादा तेजी से बढ़ा है और उस अनुपात में सभी नहीं बढ़ी है, सभी जगह माता-पिताओं, शिक्षकों और छात्रों की मांगें इस बढ़ते हुए "स्कूली शिक्षा खर्च" से भी ज्यादा बढ़ गयी है। सभी जगह इस परिस्थिति ने "बिना स्कूल" शिक्षा-अर्जन की वृहत् योजना बनाने को प्रोत्साहन देने और उसके लिए धन-लगाने के काम को हतोत्साहित किया है। सं. रा. अमेरिका यह सिद्ध कर रहा है कि संसार में कोई भी देश इतना धनी नहीं हो सकता कि वह किसी ऐसी स्कूल-प्रणाली का भार उठा सके जो वैसी मांग की पूर्ति चाहती हो, जिसे स्वयं वह प्रणाली महज अपने होने से उत्पन्न करती है, क्योंकि एक सफल स्कूल-प्रणाली मां-बाप और छात्रों को किसी ज्यादा बड़ी स्कूल-प्रणाली के सर्वोच्च मूल्य का पाठ पढ़ाती है जिसका खर्च अतुलनीय स्तर पर बढ़ता है क्योंकि ऊँची कक्षाओं की मांग होती है, जो कम पड़ती जाती है।

सबको समान स्कूल उपलब्ध कराना असंभव है, यह कहने के बजाय यह बताना बेहतर है कि सिद्धांततः ही वैसी बात आर्थिक रूप से वाहियात है और उसका प्रयास करना बौद्धिक नपुंसकत्व है, सामाजिक ध्रुवीकरण है, और उसे प्रोत्साहित करने वाली राजनीतिक प्रणाली की विश्वसनीयता का खंडन है। अनिवार्य स्कूली शिक्षण (कॉम्पलसेटरी स्कूलिंग) किसी भी विवेकशील सीमा को स्वीकार नहीं करता। व्हाइट हाउस ने हाल में एक दृष्टांत प्रस्तुत कर ही दिया है। चुनाव के काफी पहले से मि. निक्सन के मित्र और उनकी मनोचिकित्सा करने वाले, डॉ. हुटस्नेकर ने चुनाव पश्चात् प्रेसिडेंट निक्सन को सुझाव भेजा कि छह से लगाकर आठ वर्ष की आयु के बच्चों की मनोवैज्ञानिक जांच कर के उन बच्चों को छांट लिया जावे जिनमें विध्वंसक प्रवृत्तियां हैं और उनकी अनिवार्य चिकित्सा की जावे। यदि जरूरी हो तो उन्हें विशेष संस्थाओं में पुनः शिक्षा दी जावे। डॉक्टर का ज्ञापन प्रेजिडेंट ने हेल्थ, एजुकेशन एण्ड वेलफेयर डिपार्टमेंट को अध्ययन के लिए भेज भी दिया। वाह! — भावी किशोर-अपराधियों के लिए ये निरोधक-बंदीगृह कितने तर्कसंगत सुधार कार्य होंगे!

समान शैक्षिक अवसर, वास्तव में, आवश्यक भी और संभव लक्ष्य भी है, लेकिन उसे अनिवार्य स्कूली-शिक्षण (कॉम्पलसेटरी स्कूलिंग) से जोड़ देना वैसा ही भ्रामक है जैसा कि "मोक्ष के लिए मंदिर" को अनिवार्य मान लेना। आधुनिकीकृत-सर्वहारावर्ग के लिए स्कूल विश्व-धर्म बन गया है और टेकनालॉजिकल-युग के गरीबों को निर्वाण का झूठा भरोसा दिलाता है। राष्ट्र-राज्य (नेशन-स्टेट) ने उसे अपना लिया है, और सारे नागरिकों को कक्षा-दर-कक्षा पाठ्यक्रमों में भर्ती करके छोटे-बड़े डिप्लोमाओं की ओर बढ़ाया है जो कि प्राचीन कालों के दीक्षा-संस्कारों और पौरोहित-पदोन्नतियों से भिन्न नहीं है।

आधुनिक राज्य ने "सदाचारी" निगरानी-अफसरों के द्वारा और नौकरियों की जरूरतों के आधार पर, अपने शिक्षाकारों के मत को जनता पर लादने का जिम्मा ले लिया है, ठीक उसी तरह जैसा स्पेनिश राजाओं ने स्पेनी सैनिकों (कान्क्विस्टाडोर) और ईसाई धार्मिक कानून (इन्क्विजिशन) के द्वारा अपने धर्माचार्यों के निर्णयों को (लेटिन अमेरिकी विजित देशों के नागरिकों पर) जबरन लागू कर दिया था।

दो शताब्दियों पूर्व सं. रा. अमेरिका ने एक ही अकेले चर्च के एकाधिकार को विस्थापित करने के आंदोलन की अगुवाई की थी। आज हमें

स्कूल के एकाधिकार को संवैधानिक रूप से भंग करना होगा ताकि भेदभाव और पूर्वग्रह को कानूनी तौर पर जोड़ने वाली प्रणाली भी भंग की जा सके। सं. रा. अमेरिका के प्रथम संशोधन के अनुरूप आधुनिक मानवी समाज के लिए अधिकार-पत्र का पहला अनुच्छेद यह होना चाहिये कि "राज्य शिक्षा के स्थापन हेतु कोई कानून नहीं बनायेगा", कोई ऐसा कर्मकांड नहीं होगा जो सबके लिए अनिवार्य हो।

इस स्कूल-भंग को प्रभावशाली बनाने के लिए हमें किसी ऐसे कानून की जरूरत है जिसके द्वारा, शिक्षा के केन्द्रों में नियुक्ति, मतदान, अथवा प्रवेश के लिए पाठ्यक्रम के किसी भी स्तर तक की पूर्व-हाजिरी को पूरा किया जाना (याने कोई "दर्जा" पास किया होना) जरूरी नहीं माना जावे। उस कानून में यह भी गारंटी हो कि किसी भी काम अथवा भूमिका (फंक्शन या रोल) के लिए किसी भी तरह की प्रतियोगी जांच परीक्षा (कांपीटीशन-टेस्ट) नहीं हो, बल्कि वह कानून इस वाहियात भेदभाव को दूर करेगा जो कि उस गलत आदमी के पक्ष में है जिसने सार्वजनिक धन के सर्वाधिक खर्च पर किसी पूर्व-निर्धारित हुनर को सीखा है—या, (जो कि ज्यादा सही बात है) जो किसी ऐसे सर्टिफिकेट को हासिल करने में कामयाब हो गया है जिसका किसी उपयोगी हुनर या काम से कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है। एक नागरिक के लिए स्कूल के किसी पाठ्यक्रम को पूरा करना (या उसका सर्टिफिकेट लिया हुआ होना) किसी भी नियुक्ति के लिए जरूरी हो, इस बात को हटाकर ही उस नागरिक को सुरक्षा प्रदान की जा सकती है और तभी वैधानिक तौर पर स्कूल का भंग होना मनोवैज्ञानिक रूप से प्रभावकारी होगा।

स्कूली पढ़ाई के द्वारा ज्ञान का या न्याय का दर्जा नहीं बढ़ता क्यों कि शिक्षाकारों का आग्रह सर्टिफिकेट के अन्दर शिक्षा को पैक करना है। ज्ञानप्राप्ति और सामाजिक-भूमिका का नियोजन स्कूली-पढ़ाई के अन्दर गूंथ दिया गया है। ज्ञानप्राप्ति का अर्थ है किसी नये हुनर या नयी दृष्टि को हासिल करना जब कि दर्जा बढ़ना (कक्षोन्नति) दूसरों के द्वारा निर्धारित मत पर निर्भर है। ज्ञानप्राप्ति प्रायः शिक्षा का परिणाम है लेकिन रोजगार-बाजार में काम की किसी "भूमिका" का चुनाव करना या काम के किसी "प्रकार" का चुनाव करना सर्टिफिकेट की लम्बाई पर निर्भर होता जा रहा है।

शिक्षण उन परिस्थितियों के द्वारा किया गया चुनाव है जो ज्ञान को सुलभ करती है। "भूमिकाएं" उन अपेक्षाओं से पाठ्यक्रम को निर्धारित करके नियोजित होती है जिन्हें विद्यार्थी को पूरा करना है ताकि वह दर्जा पास

कर सके । स्कूल उन भूमिकाओं के साथ शिक्षण को जोड़ता है-ज्ञान को नहीं । यह बात विवेकसम्मत तो है ही नहीं, मुक्तिदायक भी नहीं है । विवेकसम्मत इस लिए नहीं क्यों कि यह सार्थक गुणों या दक्षताओं को भूमिकाओं के साथ नहीं जोड़ती, बल्कि तादाद, वैसे गुणों को अर्जित करा देने का दायित्व ली हुई प्रक्रिया को भूमिकाओं के साथ जोड़ती है । यह मुक्तिदायक या शिक्षा धर्मी इसलिए नहीं है क्यों कि स्कूल सिर्फ उनके लिए शिक्षण को सुरक्षित रखता है जिनका ज्ञान-प्राप्ति का हर कदम सामाजिक-नियंत्रण के पूर्व-निर्धारित उपायों के अनुकूल रहता है ।

अकसर ही पाठ्यक्रम का उपयोग सामाजिक हैसियत को निर्धारित करने के लिए हुआ है । कभी तो यह जन्म-के पूर्व ही से हो सकता है : कर्म ही तय देता है तुम पर किसी जाति और कुलीनता की वंश-परंपरा । पाठ्यक्रम किसी कर्म-कांड का रूप ले सकता है – अनुक्रमिक पावन संस्कारों का कर्मकांड – या वह युद्ध या शिकार करने की कुशलताओं को हासिल करते जाने का अनुक्रम हो सकता है, या अगली तरक्की,पिछली राजसी–अनुकंपाओं के क्रम पर निर्भर बना दी जा जा सकती है । सार्वजनीन स्कूली-शिक्षण का मतलब था कि व्यक्तिगत जीवन-चरित्र की भूमिका-निर्धारण से पृथक किया जावे : अर्थात हरेक को किसी भी ओहदे के लिए समान अवसर मिले । अभी भी अनेक लोग गलती से ऐसा मान लेते है कि सार्थक शैक्षणिक उपलब्धियों पर सार्वजनिक आस्था की निर्भरता को स्कूल आश्वस्त करता है । बहरहाल, स्कूल-प्रणाली ने अवसरों को समान करने की अपेक्षा उनके बंटवारे का एकाधिकार ले लिया है ।

प्रतिस्पर्धा को निर्धारित पाठ्यक्रम से पृथक करने के लिए, मनुष्य के ज्ञान-प्राप्ति के इतिहास की तहकीकात को वर्जना मान लेना चाहिये, उसी तरह से जैसे उसका किसी राजनीति से सम्बन्ध होने-न- होने, चर्च में जाने न -जाने, वंश-परम्परा, यौन-आदतें या जाति के बारे में किसी तहकीकात को वर्जना माना जाता है । किसी के स्कूली शिक्षा प्राप्त किये होने आधार पर उसके हित में पक्षपात करने के खिलाफ कानून बनाया जाना चाहिये । यद्यपि महज कानून स्कूल-हीनों (अनस्कूल्ड) के खिलाफ उसे पूर्वग्रह को समाप्त नहीं कर सकता और उसका मतलब किसी स्वयं-शिक्षित को सम्मान दिलाना नहीं है (फिर भी) वह भेदभाव खत्म करने के लिए कारगर हो सकता है ।

दूसरी बड़ी भ्रांति जिस पर स्कूली प्रणाली टिकी हुई है वह यह है कि ज्ञानप्राप्ति शिक्षण के फलस्वरूप होती है । हालांकि, यह सच है कि किन्हीं विशेष परिस्थितियों में, शिक्षण से किसी विशेष प्रकार की ज्ञानप्राप्ति को लाभ

मिलता है । लेकिन अधिकांश लोग अपना ज्ञान स्कूल के बाहर ही हासिल करते है, केवल कुछ ही धनी देशों में लोग स्कूल के अन्दर उतना ही ज्ञान प्राप्त करते हैं जहां तक स्कूल उनकी जिंदगियों के अधिकांश हिस्से को घेर चुका होता है ।

अधिकांश ज्ञानप्राप्ति चलते-फिरते ही होती है, यहाँ तक कि अत्यंत सोद्देश्य ज्ञानप्राप्ति भी आयोजित शिक्षण का प्रतिफल नहीं है । औसत बच्चे अपनी पहली भाषा चलते फिरते ही सीखते है, चाहे तो वे उसे ज्यादा तेजी से भी सीख लें यदि उनके माता-पिता उन पर समुचित ध्यान दें ।
बहुत से ऐसे लोग भी है जो दूसरी भाषा सीख जाते है, यह क्रमबद्ध शिक्षण के कारण नहीं बल्कि कुछ विचित्र परिस्थितियों के परिणामस्वरूप है । जैसे-उनमें से कुछ अपने दादा(या नाना) के घर रहने चले जाते है, कुछ यात्राओं के दौरान अन्य भाषा-भाषियों के सम्पर्क में आते हैं, तो कुछ के विवाह विदेशी-भाषी से हो जाते है । पढ़ने (रीडिंग) में रवानी हासिल कर लेना भी उसी तरह की अतिरिक्त गतिविधियों के परिणामस्वरूप होता है । बहुत से लोग जो अत्यंत विविध पुस्तकें पढ़ते है, और बड़ी सरलता के साथ पढ़ते है, उन्हें यह गलत सा भान रहता है कि यह उन्होंने स्कूल में सीखा; यदि उन्हें जरा भी खँगाला जावे तो वे जल्दी उस भ्रांति को झटककर फेंकेंगे ।

बहुत बड़ी तादाद में, आज भी ज्ञानप्राप्ति चलते-फिरते हासिल होती है, और वह किसी अन्य गतिविधि के परिणामस्वरूप है जो ''काम'' अथवा ''फुर-सत'' के नामों से परिभाषित है, किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि संयोजित ज्ञानप्राप्ति संयोजित शिक्षण से नहीं होती है और कि दोनों में सुधार की जरूरत ही नहीं । किसी ऐसे अत्यंत इच्छुक छात्र के लिए जो किसी नये और जटिल हुनर को हासिल करने के लिए प्रयास कर रहा है, वह उस अनुशासन (डिसिप्लिन) से अवश्य ही लाभ प्राप्त करेगा जो उस पुरानी-फैशन के स्कूल-मास्टर से सम्बद्ध है कि जिसने रटवा कर हिंदू या धार्मिक-प्रश्नोत्तर,अथ-वा सूत्र-भाव सिखाया था । स्कूल ने उस तरह के परेड-शिक्षण को बंद कर दिया है, उसे भद्दा मान लिया है, फिर भी ऐसे अनेक हुनर है जिनमें सामान्य रुचि रखने वाला कोई अभिप्रेरित (मोटीवेटेड) छात्र, उसी परम्परागत तरीके से सिखाये जाने पर, कुछ ही महीनों में दक्षता हासिल कर सकता है । यह पुराना तरीका सदाचार के नियमों को पढ़ने और उनके गूढ़ मंतव्यों को समझाने के लिए तो सच है ही, यही तरीका दूसरी और तीसरी भाषा को सीखने के लिए भी सच है—उन्हें पढ़ने और सीखने के लिए; और विशेषभाषाओं के लिए भी सच है

जैसे, बीज-गणित, कम्प्यूटर-प्रोग्रामिंग या रसायनिक विश्लेषण के लिए, और हाथ-के हुनरों के लिए भी, जैसे टाईपिंग, वाच मेकिंग, प्लंबिंग, वायरिंग, टीवी रिपेयर और ड्राइविंग तथा गोताखोरी के लिए भी, और नृत्य सीखने के लिए भी वही पुराना तरीका सच्चा है।

कुछ मामलों में किसी विशेष हुनर को सीखने के स्कूली कार्यक्रम में दाखिले के लिए पहले से ही किसी अन्य हुनर में दक्षता प्राप्त किया होना अनिवार्य होता है, उसे निश्चय ही उस प्रक्रिया पर बिलकुल निर्भर नहीं रखा जाना चाहिये जिससे वे पूर्व-निर्धारित हुनर सीखे जाते हैं। टीवी रिपेयर के स्कूली-कार्यक्रम में दाखिले के लिए भाषा और गणित का पूर्व-ज्ञान जरूरी होता है, गोताखोरी, तैरने, ड्राइविंग आदि के सीखने के कार्यक्रम के लिए वह या तो बहुत कम जरूरी है, या बिलकुल भी जरूरी नहीं है।

सीखे जा रहे हुनरों (लर्निंग स्किल) की प्रगति को आंका जा सकता है। किसी अभिप्रेरित (मोटिवेट) युवक पर समय और सामग्रियों के रूप में जरूरी लगने वाले अनुकूलतम खर्चों का आकलन किया जा सकता है। अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त किसी अन्य भाषा (पश्चिमी-यूरोपीय भाषा) को उच्च स्तर के कौशल के साथ पढ़ाने के लिए सं. रा. अमेरिका में चार सौ से छह सौ डालर खर्च होता है, और किसी पूर्वी भाषा (पूर्वी देशों की किसी भाषा) को पढ़ाने के लिए दो गुना समय लग सकता है। फिर भी यह खर्च न्यूयार्क के किसी स्कूल में बारह-वर्षीय पढ़ाई (सेनिटेशन डिपार्टमेंट में नौकरी के लिए न्यूनतम अर्हता) में लगने वाले खर्च, याने पंद्रह हजार डालर से बहुत कम है। बे-शक सिर्फ छापाखाने वाले या दवाई-दुकानदार ही नहीं, शिक्षक भी अपने-अपने व्यापार को इस सार्वजनिक भ्रम के द्वारा बचाये रखते हैं कि उनको सीखना बहुत महँगा होता है।

आज सारे स्कूल अधिकांश शैक्षिक-अनुदान (एजुकेशनल फंड) को पहले से ही हथिया लेते हैं। ड्रिल-इन्स्ट्रक्शन सिस्टम जो कि स्कूली प्रणाली से कम खर्चीला है वह कुछ विशेषाधिकारियों के लिए, सेना के लोगों के लिए, बड़े व्यवसाय के नौकरों के लिए सेवाकालीन प्रशिक्षण (इन-सर्विस ट्रेनिंग) के अन्तर्गत उपलब्ध है। सं. रा. अमेरिका की शिक्षा के क्रमबद्ध स्कूल-भंग (डी-स्कूलिंग यू. एस. एजुकेशन) के कार्यक्रम में सबसे पहले ड्रिल-ट्रेनिंग के लिए दी गई सुविधाओं को सीमित करना होगा। अंतत:, किसी को भी, उसके समूचे जीवनकाल के किसी

भी समय में, सार्वजनिक खर्च पर चल रहे सैकड़ों परिभाषित हुनर में से किसी को चुनने और सीखने के लिए किसी भी तरह की रोक नहीं होनी चाहिये।

आज ही किसी उम्र के लोगों को, सिर्फ गरीब को ही नहीं बल्कि हर एक वर्ग के लोगों को, किसी भी हुनर-सीखने के केन्द्र (Skill centre) पर लगने वाले समुचित शैक्षिक अनुदान को सीमित राशियों में प्रदान किया जा सकता है। मैं कल्पना करता हूं कि इस तरह का अनुदान हर नागरिक को "शैक्षिक पासपोर्ट" या "शैक्षिक अनुदान-पत्र" के रूप में जन्म से ही मिल जाये। गरीब का ध्यान रखने के लिए (जो कि शायद अपने वार्षिक अनुदानों को जिंदगी के प्रारंभिक काल के बजाय उपयोग में नहीं ले पायेंगे) यह सुविधा हो कि उनका आवंटित हिस्सा वर्ष-दर-वर्ष ब्याज सहित जुड़ता जाये। ऐसे अनुदान उन हुनर को हासिल करने में अधिकांश लोगों को जुटायेंगे जिनकी अधिक मांग है और जिन्हें वे उनकी सुविधानुसार, ज्यादा अच्छी तरह से, शीघ्रता से, कम खर्च पर हासिल कर सकेंगे और अवांछनीय प्रभाव (Side effects) स्कूल से होने वाले अवांछनीय प्रभावों की अपेक्षा बहुत ही कम होगा।

हुनर के व्यावसायिक शिक्षक (प्रोफेशनल स्किल टीचर्स) बहुत लंबे अर्से तक बड़ी संख्या में उपलब्ध रहते हैं, क्योंकि किसी हुनर की मांग समुदाय में उस हुनर के परफारमेंस से संबंधित होती है, और फिर, कोई भी ऐसा व्यक्ति जो उस हुनर में अभ्यस्त है, वह उसे पढ़ा-लिखा भी सकता है। लेकिन आज, उपयोगी हुनर के अभ्यस्त लोगों को, अपना हुनर दूसरों को सिखाने से रोका जाता है। ऐसा एक तो वे शिक्षक करते हैं जो अपने व्यवसाय के ठेकेदार हैं और दूसरे वे यूनियन-अधिकारी करते हैं जो उनके व्यापारिकहित को सुरक्षित रखते हैं। ऐसे हुनर-केन्द्र (स्किल सेंटर) अपने कौशल-प्रदर्शन (परफारमेंस) से ग्राहकों के द्वारा परखे जावेंगे, न कि उनमें नियुक्त कर्मचारियों के आधार पर या उनके द्वारा प्रयुक्त विधि के द्वारा; वे केन्द्र काम करने के बिला-शक अवसरों के द्वार खोल देंगे, खासकर उन लोगों के लिए भी जो आज व्यवसाय-योग्य नहीं माने जा रहे हैं। और सच में तो, ऐसे हुनर केन्द्र कार्य-स्थल (वर्क प्लेस) पर ही होने चाहिये जहां मालिक (एम्प्लायर) और उसके कार्यकर्ता उन लोगों को प्रशिक्षण देने और नौकरियां देने का भी काम करें जो अपने एजुकेशनल क्रेडिट (शैक्षिक-अनुदान) को उन तरह उपयोग में लाना चाहते हों।

1956 में न्यूयार्क के आर्चडायोसिस (आर्चबिशप आदि धार्मिक अधिकारियों) को हजारों शिक्षकों, सामाजिक कार्यकर्ताओं और पादरियों को बहुत फटाफट स्पेनिश भाषा सिखाने की जरूरत पड़ी ताकि वे प्यूएर्टो–रिको के नागरिकों से सीधे–सीधे संवाद कर सकें। जनाब गैरी मोरिस ने न्यूयार्क के स्पेनिश रेडियो केन्द्र से घोषणा की कि उसे हार्लेम के नेटिव स्पीकर (गैर यूरोपीय भाषा–भाषी) चाहिये। दूसरे दिन उसके दफ्तर के सामने कोई दो सौ किशोर लाइन लगाये खड़े हो गये और उसने उनमें से चार दर्जन चुन लिये—जिनमें से अधिकांश स्कूल छोड़े (ड्राप–आउट) हुए थे। उसने उन्हें "यू एस फारेन सर्विस इंस्टीट्यूट स्पेनिश मेनुअल" का उपयोग करना सिखाया जो कि ग्रेजुएट तक शिक्षा प्राप्त भाषाशास्त्री के लिए रचा गया है, और एक ही सप्ताह में उसने उन्हें इतना तैयार कर दिया कि उनमें से प्रत्येक अब एक शिक्षक था जो उन चार न्यूयार्क–नागरिकों को स्पेनिश भाषा सिखाता था जो उसको सुपुर्द किये गये थे। सिर्फ छह महीनों में उन्होंने आवश्यक संख्या में स्पेनिश भाषा सीखे अमेरिकी हासिल कर लिये। कार्डिनल स्पेलमन ने दावा किया कि उनके पास 127 डिवीजन हैं। जिनमें प्रत्येक में तीन स्टाफ–मेम्बर स्पेनिश में बातचीत कर सकते हैं। इस उपलब्धि को कोई भी स्कूल–कार्यक्रम हासिल नहीं कर सकता।

हुनर–शिक्षक (स्किल टीचर्स) कम होते गये तो इसी (अंध–) विश्वास के कारण कि उनके पास प्रमाण–पत्र नहीं हैं। प्रमाण–पत्र बाजी एक तरह का बाजारी जुआ है और वह सिर्फ स्कूली–दिमाग के लिए ही है। स्कूलों में शिल्पकारी और दस्तकारी के अधिकांश शिक्षक अनेक बढ़िया शिल्पकारों और दस्तकारों से कम हुनरमंद, कम अन्वेषी और कम सम्पर्कशील होते हैं। स्पेनिश अथवा फ्रेंच पढ़ाने वाले अधिकांश हाई स्कूल शिक्षक उनके शिष्यों की तरह माहिर, सक्षम, पुराने फैशन की, द्रुत–शिक्षा से प्राप्त काबिलियत का मुकाबला नहीं कर सकते। प्यूएर्टो रिको में एंजिल किवन्टेरो के उपर्युक्त प्रयोगों ने यह इंगित किया है कि अनेक किशोरों को, यदि उपयुक्त प्रोत्साहन, कार्यक्रम और औजारों का इस्तेमाल (हैंडल) करने की छूट दी जाये तो, उस प्रारंभिक शिक्षा को कि जिसमें पौधों का वैज्ञानिक अन्वेषण, चांद–तारों की जानकारी और बिजली की मोटर या रेडियो की क्रिया–विधियों का ज्ञान हो, वे किशोर, अधिकांश स्कूल–शिक्षकों के बजाय ज्यादा बेहतर तरीके से बच्चों को सिखा सकते हैं।

यदि हम "बाजार" को खुला कर दें तो हुनर–शिक्षण के लिए विशाल अवसर निकल सकते हैं। यह एक सही शिक्षक का सही विद्यार्थी के साथ संयोग बिठाने पर और उस विद्यार्थी को किसी भी निर्धारित पाठ्यक्रम के तनाव से मुक्त रख उसे अत्यंत अभिप्रेरित करने पर निर्भर करता है।

पारंपरिक शिक्षण की तुलना में खुला और प्रतिस्पर्धी ड्रिल इन्स्ट्रक्शन विनाशकारी अधर्म है। वैसा ड्रिल–इन्स्ट्रक्शन "हुनर विद्याओं" के हासिल करने को "शास्त्रीय शिक्षा" से विलग कर देता है, जिन्हें स्कूल एक–साथ पैकेज कर देते हैं, अतः वह अपूर्वानुमेय उद्देश्यों के लिए बेलगाम ज्ञानप्राप्ति को बेलगाम शिक्षण की तरह ही प्रोत्साहित करता जाता है।

हाल ही एक ऐसा मसौदा प्रस्तावित हुआ है जिसे पहली नजर में देखने से वह अत्यंत अर्थवान मालूम देता है। उसे "सेंटर फार स्टडी आफ पब्लिक पॉलिसी" के स्कालर क्रिस्टाफर जेंक्स ने तैयार किया है और "आफिस आफ द इकानामिक अपोर्चुनिटी" उसका प्रायोजक है। उसमें यह प्रस्ताव किया गया है कि शिक्षा के लिए तय की गई "अधिकृत राशि" या ट्यूशन ग्रांट्स अभिभावक (माता–पिता) और छात्रों के हाथों में सौंप दी जाये, ताकि वे चाहे जिस स्कूल में अपनी मनपसंद शिक्षा हासिल करें। इस तरह की वैयक्तिक हकदारियां सही दिशा में महत्वपूर्ण कदम हो सकती हैं। हमें प्रत्येक नागरिक के उस हक की गारंटी चाहिये जिसके द्वारा उसे करों से **एकत्रित शिक्षा–खर्च की राशि का बराबर** हिस्सा मिले, उस हिस्से को परखने का अधिकार मिले, और यह अधिकार भी मिले कि उसे इंकार करने पर वह दावा कर सके। प्रतिगामी कर–प्रणाली (रिग्रेसिव टेक्सेशन) के खिलाफ यह एक तरह की गारंटी है।

क्रिस्टाफर जेंक्स का उपर्युक्त प्रस्ताव, बहरहाल, इस शकुनी वक्तव्य से आरंभ होता है, "कन्सरवेटिव, लिबरल और रेडिकल"— (अनुदारवादी, उदारवादी और क्रांतिकारी) सभी ने हर वक्त यह शिकायत की है कि अमेरिकी शिक्षा प्रणाली, अधिकांश बच्चों को उच्च–स्तरीय शिक्षा प्रदान करने के लिए, व्यवसायी–शिक्षाकारों (प्रोफेशनल एजुकेटर) को बहुत कम प्रोत्साहन–राशि देती है।" अतः इस तरह तो यह प्रस्ताव शैक्षिक अनुदान (ट्यूशन ग्रांट्स) को स्कूलों पर ही खर्च करने की अनिवार्यता बनाकर, स्वयं ही अपना तिरस्कार कर लेता है।

यह तो ऐसा हुआ कि अपंग को बैसाखी मिले मगर वह स्वयं ही उसका उपयोग न कर पाये। आज ही शैक्षिक-अनुदान (एजुकेशन बजट ग्रांट) की हालत क्या है, वह न सिर्फ व्यावसायिक शिक्षाकारों के हाथ का खिलौना है बल्कि उसे जातिवादी (रेसिस्ट), धार्मिक स्कूलों के व्यवसायी और उसी तरह के लोग हथि-याते हैं जिनका उद्देश्य समाज में भेद बनाये रखना है। यदि शैक्षिक अनुदान इस तरह दिये जाएँ कि जिनका उपयोग सिर्फ स्कूलों के अन्दर ही हो सके तो उसका मतलब यही हुआ कि उन्हीं लोगों के ही दबाव में रहो जो ऐसे ही समाज में बने रहने को मजबूर कर रहे हैं जिसमें सामाजिक प्रगति प्रमाणित ज्ञान पर आधारित नहीं है बल्कि उस शैक्षिक वंशावली से बंधी हुई है जिससे कि वह (सामाजिक प्रगति) हासिल होती हुई समझी जा रही है। शैक्षिक अनुदान-राशि के सुनि-योजन का जेबक का प्रस्ताव, जो आखिर स्कूल के ही पक्ष में जाता है, वह शैक्षिक सुधार के लिए अत्यंत आवश्यक सिद्धांतों में से एक सिद्धांत का जबर्दस्त अनादर करता है, और वह सिद्धांत यह है—ज्ञानप्राप्ति के लिए पहल और जवाबदेही सीखने-वाले के या उसके एकदम सामने खड़े शिक्षक के हाथ में ही होना चाहिये।

समाज में से स्कूल को भंग करने (डीस्कूलिंग ऑफ सोसायटी) में ज्ञान-प्राप्ति की दोधारी प्रकृति की पहचान का उभरना अंतर्निहित है। सिर्फ हुनर सीखने के अभ्यास (स्किल ड्रिल) पर ही आग्रह का बना रहना बहुत घातक है, ज्ञान के अन्य प्रकारों पर भी ध्यान दिया जाना चाहिये। लेकिन जब वे स्वयं ही हुनर सीखने के लिए गलत स्थान हैं, तो शिक्षा प्राप्ति के लिए तो वे और भी बदतर हैं। स्कूल दोनों कामों– हुनर सिखाना और शिक्षा देना—को गलत तरीके से करता है, शायद इसलिए भी कि वह उन दोनों को एक ही बात समझता है। हुनर-प्रशिक्षण का कार्य करने में स्कूल अयोग्य है, खासकर इसलिए कि वह पाठ्यक्रमानुसार है। अनेक स्कूलों में किसी एक हुनर के सुधार के लिए जो कार्य-क्रम अभिप्रेत होता है वह अक्सर ही किसी दूसरे निरर्थक काम के साथ में जोड़ दिया जाता है। जैसे, इतिहास के साथ उच्च-गणित, कक्षा में अनिवार्य हाजिरी हो तब ही खेल के मैदान का उपयोग कर सकना, आदि।

स्कूल उन परिस्थितियों का संयोजन करने के भी काबिल नहीं है जो हासिल किये गये हुनर के मुक्त और अन्वेषक उपयोग को प्रोत्साहन दें जिसके लिए मेरे पास विशिष्ट संज्ञा है "मुक्त शिक्षा"। इस अयोग्यता का प्रमुख कारण यह है कि स्कूल बाध्यकारी (ऑब्लिगेटरी) है, स्कूल स्कूली-पढ़ाई के लिए स्कूली धंधा है, स्कूल अनिवार्य हाजिरी के जोर पर शिक्षकों के तले दबे रहने का, और

तज्जन्य वैसी जबरदस्ती का अधिक संदिग्ध विस्तार है। जिस तरह हुनर प्रशिक्षण को पाठ्यक्रमगत खिंचाव से मुक्त रहना चाहिये, उसी तरह मुक्त शिक्षा के लिए अनिवार्य उपस्थिति की बाध्यता नहीं होनी चाहिये। हुनर-प्रशिक्षण (स्किल ड्रिलिंग), और आविष्कारात्मक एवं रचनात्मक शिक्षा, दोनों ही, संस्थागत संयोजना से मदद ले सकते हैं लेकिन वे भिन्न और विपरीत प्रकृति के ही हैं।

अधिकांश हुनर अनुशासनात्मक अभ्यासों (ड्रिल्स) के द्वारा सीखे सुधारे जा सकते हैं क्योंकि हुनर में, तराशी हुई और ठीक-ठीक नतीजे निकालने वाली दक्षता-अंतर्निहित है। इसलिए हुनर-प्रशिक्षण, उन परिस्थितियों की ही अनु-रूपता पर निर्भर करता है जिनमें वे हुनर उपयोग में लिये जायेंगे। बहरहाल, शिक्षा, हुनर के आविष्कारात्मक एवं रचनात्मक उपयोग के लिए, अनुशासनात्मक-अभ्यासों पर निर्भर नहीं रह सकती। शिक्षा, हो सकता है कि प्रशिक्षण के फल-स्वरूप हो, यद्यपि वह प्रशिक्षण मूलतः अनुशासनात्मक-अभ्यासों (ड्रिल्स) के विप-रीत होगा। वह सहभागियों के परस्पर संबंध पर ही निर्भर होगा जिनके पास कुछ ऐसी कुंजियाँ होती ही हैं जो समुदाय में, समुदाय के द्वारा संग्रहीत स्मृतियों के भंडार को खोलने की क्षमता रखती हैं। वह उन सभी के उस विशिष्ट आलाप पर निर्भर करेगा जो स्मृतियों का सृजनात्मक इस्तेमाल करते हैं। वह उस अप्रत्याशित प्रश्न के चमत्कार पर भी निर्भर करेगा जो प्रश्नकर्ता और उसके सहभागी के लिए नये द्वार खोलता है। हुनर-प्रशिक्षक (स्किल इन्स्ट्रक्टर) नपी-तुली परिस्थितियों की व्यवस्था पर निर्भर है जो छात्रों में मानक प्रतिक्रियाओं (स्टैण्डर्ड रेस्पांसेस) का विकास करने की अनुमति देती है। शैक्षिक निर्देशक (एजुकेशनल गाइड) या मास्टर की चिन्ता यही रहती है कि वह उपयुक्त जोड़ा (मैचिंग पार्टनर्स) मिला दे ताकि ज्ञानप्राप्ति हो सके। वह एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से मिलाता है जो कि स्वयं अपने ही हल न किये हुए प्रश्नों से शुरुआत करते हैं। हद-से-हद वह छात्र को उसकी प्रश्नावली (एजलमेंट) का आकार गढ़ने में सहायता देता है क्योंकि कोई स्पष्ट वक्तव्य ही उसे वह शक्ति देता जिससे वह अपना सुमेल (मैच)खुद ढूंढ़ ले, जो कि, उसी क्षण, उसी की तरह प्रेरित होकर, उसी प्रश्न की खोज, उसी संदर्भ में करे।

किसी खेल के लिए हुनर प्रशिक्षकों (स्किल इन्स्ट्रक्टर्स) की और सहभागियों की खोज लेने के बजाय शैक्षिक कार्य के लिए उपयुक्त जोड़ा मिलाने की कल्पना प्रारंभिक तौर पर मुश्किल मालूम देती है। इसका एक कारण तो यह है कि

स्कूल ने हमारे भीतर गहरे में एक डर गाड़ दिया है, एक डर जो हमें छिद्रान्वेषी (गलती ढूंढनेवाला) बनाता है। हुनर (स्किल्स) का बेलगाम विनिमय (याने हुनर सीखने की अनगढ़ मुक्त-लेने की प्रक्रिया) —चाहे वे अनुपयुक्त हुनर ही क्यों न हों—ज्यादा होनहार है, अतः, अपने लिए, तात्कालिक स्वरूप में, सामाजिक, बौद्धिक और भावनात्मक रूप से महत्वपूर्ण किसी मसले पर विचार करने के लिए लोगों के आपसी मिलन के सीमाहीन अवसर की बनिस्बत कम खतरनाक है।

ब्राजीलियन शिक्षक पाउलो फ्रेअरे इस बात को अपने अनुभव के आधार पर जानता है। उसने इस तथ्य का उद्घाटन किया कि कोई भी (अनपढ़) प्रौढ़ व्यक्ति सिर्फ चालीस घंटे के सिलसिले में पढ़ना सीख सकता है यदि भाषा सिखाये जाने वाले आरंभिक शब्द राजनीतिक अर्थ संदर्भों से भरे पड़े हों। फ्रेअरे अपने शिक्षकों को ट्रेनिंग देता है कि वे गांवों में जाएं और उन शब्दों को खोजें जो तात्कालीन महत्वपूर्ण मुद्दों को लक्ष करते हों, जैसे, जमींदार के कुएं से पानी लेने कैसे जा सकते हैं, अथवा जागीरदार के कर्ज पर मिश्र ब्याज कैसे लगता है। शाम को ग्रामीण-जन मिलते हैं और उन संकेत शब्दों (की-वर्ड्स) पर बहस करते हैं। वे महसूस करना शुरू करते हैं कि प्रत्येक शब्द उसकी ध्वनि के डूबने के बाद भी ब्लैक बोर्ड पर जमा रहता है। अक्षर यथार्थ को उघाड़ते ही जाते हैं और उसे किसी समस्या के रूप में ऐसे सहेज देते हैं कि वह हल करने योग्य बने। मैंने कई बार स्वयं देखा है कि लोग (अनपढ़ ग्रामीण जन) जैसे-जैसे पढ़ना सीखते जाते हैं वे उतनी ही तेजी से सामाजिक चेतना हासिल करते जाते हैं और उतनी ही तेजी से राजनीतिक कर्म के लिए उत्तेजित होते जाते हैं। जैसे ही उन्हें लिखना आ जाता है वैसे ही वे यथार्थ को अपने हाथों में संभालते हुए लगने लगते हैं।

मुझे उस आदमी की याद है जिसने पेंसिलों के वजन की शिकायत की थी कि वे संभलती नहीं हैं क्योंकि वे फावड़े की तरह भारी नहीं हैं। एक आदमी और था, जो काम की ओर जाते हुए रास्ते में अपने साथियों को रोक कर खड़ा हुआ और उसने अपनी खुरपी से धरती पर एक शब्द उकेरा : "आगुआ"। सन् 1962 से फ्रेअरे एक निर्वासन-स्थल से दूसरे निर्वासन-स्थल की ओर बढ़ते ही जाता रहा है, खासकर इसलिए कि वह स्थापित शिक्षाचार्यों द्वारा पहले से ही चुन लिये गये शब्दों के इर्दगिर्द ही अपनी "कक्षाएं" चलाना नहीं चाहता। वह उन्हीं शब्दों का उपयोग करना चाहता है जिन्हें उसके लोग कक्षाओं में लाते हैं।

ऐसे लोगों के बीच शैक्षिक सुमेल (एजुकेशनल मैचमेकिंग) बिठाना जो सफलतापूर्वक स्कूली अध्ययन पा चुके हैं एक भिन्न उद्यम है। जिन्हें ऐसे सहयोग की जरूरत नहीं है वे बहुत थोड़े हैं, यहां तक कि गंभीर पत्रिकाओं के अधिकांश पाठकों को भी उस तरह के सहयोग की जरूरत पड़ती है। बहुसंख्या को किसी नारे, किसी शब्द या किसी चित्र के इर्दगिर्द बहस के लिए घेरा नहीं जा सकता; घेरना चाहिये भी नहीं, मगर सिद्धांत तो फिर वही है : उन्हें अपनी स्वयं की पहल के द्वारा चुनी और परिभाषित की गयी समस्या को ही केन्द्र में रखकर संवाद करना होगा। सृजनात्मक और अन्वेषणात्मक ज्ञानप्राप्ति के लिए समकक्षों की जरूरत है जो कि एक-जैसे मुद्दों या समस्याओं से एक-ही समय में उलझे हुए हैं। बड़े विश्वविद्यालय सुमेल बिठाने के निरर्थक प्रयास में पाठ्यक्रमों को बढ़ाते जाते हैं, और वे बिलकुल असफल होते हैं क्यों कि वे निर्धारित पाठ्यक्रम, कोर्स की संरचना, और नौकरशाही प्रशासन से बंध जाते हैं। स्कूलों में, और विश्वविद्यालयों में भी, अधिकांश संसाधनों को किसी परिपाटीगत तयशुदा सेटिंग में, पूर्वनिर्धारित सवालों (प्रश्नावली) को उठाने के लिए थोड़े से लोगों को लगने वाले समय और प्रोत्साहन में खर्च कर दिया जाता है। स्कूल का सबसे अधिक क्रांतिकारी विकल्प हो सकता है कोई ऐसा नेटवर्क या सेवा जो प्रत्येक मनुष्य के लिए अपनी वर्तमान चिंता को उन दूसरों के साथ समझने-सुलझाने का समान अवसर दे जो उसी चिंता से उत्तेजित हुए हों।

मैं (जैसी मेरी मान्यता है उसका) एक दृष्टांत देता हूं कि किस तरह से न्यूयार्क सिटी में एक बौद्धिक सुमेल (इंटलेक्चुअल मैच) कारगर होगा। प्रत्येक मनुष्य, किसी निर्धारित क्षण पर और न्यूनतम दाम देकर, अपने को एक कम्प्यूटर के सामने जाहिर करे और अपना टेलीफोन नंबर दे, पता दे, तथा पुस्तक, लेख, फिल्म या रिकार्डिंग बताये जिसके लिए उसे बहस करने के वास्ते एक पार्टनर की तलाश है। चंद दिनों में उसे डाक से उन लोगों की फेहरिस्त मिल जायेगी जिन्होंने हाल ही में उसी तरह की पहल की होगी। वह फेहरिस्त उसे टेलीफोन के द्वारा उन लोगों से भेंट की व्यवस्था तय करवाने का काम करेगी जो शुरूआत से ही, पहचाने हुए होंगे ही क्योंकि उन्होंने भी उसी विषय बाबत् संवाद के साथी की मांग कर रखी होगी।

किसी खास विषय में उनकी रुचि के अनुसार लोगों के बीच सुमेल बिठा देना अत्यंत सरल है। इस सुमेल में यह खासियत है कि वह किसी तीसरे व्यक्ति के द्वारा रिकार्ड किये हुए वक्तव्य पर बहस करने की पारस्परिक इच्छा के आधार

पर आपसी तादात्म्य स्थापित करता है और उनके एकत्र होने की व्यवस्था की पहल को व्यक्ति पर निर्भर रहने देता है। इस कंकाल मुद्रा के खिलाफ तीन आपत्तियाँ अमूमन उठाई जाती हैं। मैं उनकी एक-एक करके विवेचना करूँगा ताकि अपने द्वारा प्रस्तावित थ्योरी को स्पष्ट कर सकूं — क्योंकि ये आपत्तियाँ स्कूल बंद के (ज्ञानप्राप्ति को सामाजिक नियंत्रण से मुक्त करने के) भारी प्रतिरोध को उजागर करती हैं—साथ ही साथ यह व्याख्या इसलिए भी है क्योंकि ये आपत्तियाँ उन उपलब्ध संसाधनों को सुझाने में सहायक हो सकती हैं जो आज ज्ञानप्राप्ति के उपयोग में नहीं लिये जा रहे हैं ।

पहली आपत्ति यह है कि : इस तरह की परस्पर-पहचान का आधार कोई "विचार" (आइडिया) या कोई "मुद्दा" क्यों न हो ? यदि यह मान लें तब तो, इस तरह की अनेकानेक पसंदगार बातें किसी भी कंप्यूटर-प्रणाली में फिट की जा सकती हैं। राजनैतिक दल, चर्च, यूनियन, क्लब, मोहल्ला-केन्द्र और व्यावसायिक समुदाय इसी तरह से अपनी शैक्षिक-गतिविधियों को आयोजित करते ही हैं और वास्तव में वे स्कूल की तरह ही काम करते हैं। ये सारी संस्थाएँ लोगों के बीच सुमेल बिठाती हैं ताकि कोई विशेष "थीम" को खोजबीन लें; और फिर कोर्स में, सेमीनारों में और पाठ्यक्रमों में उन पर विचार चर्चा करें जिनमें पूर्वानुमानित "सब-के-हित" पहले से ही पैक किये हुए हैं। परिभाषानुसार इस तरह की थीम-मैचिंग" शिक्षक-केन्द्रित होती है : उसमें एक सत्ताधिकारी व्यक्ति की उपस्थिति अनिवार्य है जो सहभागियों के लिए उनकी बहस की शुरुआत के बिन्दु को परिभाषित करे ।

इसके कंट्रास्ट में, किसी पुस्तक, फिल्म आदि के टाइटल के द्वारा लोगों में सुमेल-बिठाना पूरा का पूरा लेखक पर यह छोड़ता है कि वह उन विशेष भाषा, उन उक्तियों, और उस कलाकार को परिभाषित करे जिसमें एक दिया हुआ प्रश्न या तथ्य प्रस्तुत है; और वही (यानि, सुमेल-बिठाना) उस प्रारंभिक बिन्दु को स्वीकारने-वालों को स्वयं वही परस्पर पहचानने के (आइडेंटिफाई करने के) योग्य बनाता है। उदाहरणार्थ, "सांस्कृतिक क्रांति" के विचार के "मुद्दों पर लोगों का सुमेल बिठाना अमूमन या तो विभ्रम की ओर अथवा बाजारू राजनीति की ओर ले जायेगा। दूसरी ओर, उन लोगों का सुमेल बिठाना जो माओ, मारक्यूस, फ्रायड अथवा गुडमन के किसी लेख को समझने के लिए एक दूसरे को सहायता पहुंचाने में रुचि रखते हैं, वो यह मुक्त ज्ञानप्राप्ति की वर्षों पुरानी महान् परम्परा

है जो प्लेटो के संवाद (जो कि सुकरात के माने गये वक्तव्यों के आधार पर रचे हुए हैं) से लगाकर पीटर द-लोम्बार्ड पर अविसेना की टिप्पणियों तक फैली हुई है। यहां ध्यान रहे कि पुस्तक के टाईटिल के जरिये लोगों में सुमेल बिठाना उन थ्योरी से बिलकुल अलग है कि जिसके द्वारा "ग्रेट बुक्स" के क्लब निर्मित हुए थे। कहने का तात्पर्य यह कि शिकागो के किसी प्रोफेसर के द्वारा चुनी गई पुस्तकों पर निर्भर होने के बजाय, कोई भी दो सहयोगी, विशद व्याख्या करने के लिए, किसी भी पुस्तक को स्वयं ही चुनें।

दूसरी आपत्ति का सवाल—सुमेल खोजने वालों की पहचान में उम्र, बैकग्राउन्ड, विश्वदृष्टि, क्षमता, अनुभव तथा अन्य लाक्षणिक विशेषताओं को शामिल क्यों नहीं किया जाये ? कह सकते हैं कि चलिये, ऐसी छानबीन-वाली शर्त दिया अनेक विश्वविद्यालयों-बन्द अथवा खुले, में से एकाध में से ही क्यों नहीं लगाई जाये जो कि टाइटिल द्वारा सुमेल-बिठाने की प्रक्रिया (टाईटिल-मैचिंग) को अपनी प्रबंधात्मक युक्तियों में से एक मानकर उसका प्रयोग करें ? चलो, ठीक है, मैं किसी ऐसी प्रणाली की कल्पना करता हूं जो सोच-विचार करने वाले व्यक्तियों को ऐसी गोष्ठियों को प्रोत्साहित करें जिनमें पुस्तक का लेखक अथवा उसका प्रतिनिधि उपस्थित हो अथवा किसी ऐसी प्रणाली जिसके द्वारा किसी विभाग या स्कूल के अन्दर दाखिल विद्यार्थियों को ही दखल करने का अधिकार हो; अथवा किसी ऐसी प्रणाली जिससे उस विचारणीय पुस्तक पर अपने विशेष रुख को परिभाषित किये हुए व्यक्तियों के दरम्यान गोष्ठियां संभव हो सकें। मैं मानता हूँ कि इन सीमा क्षेत्रों में से प्रत्येक में विद्याध्ययन के विशिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति के फायदे हैं। मगर, अक्सर ही, ऐसे सीमा क्षेत्र के निर्धारण के पीछे एक ऐसा गलत पूर्वानुमान है कि लोग अज्ञानी हैं : शिक्षाधारी-गण नहीं चाहते कि अज्ञानियों की अज्ञानियों के साथ भेंट चर्चा, बातचीत, बहस किसी ऐसी विषयवस्तु पर हो जिसे वे समझ नहीं सकेंगे और जिसे उन्होंने पढ़ा है तो "सिर्फ" इसलिए कि उसमें उनकी रुचि भर है ।

तीसरी आपत्ति : सुमेल बिठाने के इच्छुकों को प्रासंगिक सहायता प्रदान क्यों न की जाये जो उनकी मीटिंग को सुगम बना सके—जैसे स्थान, सूचीपत्र, छानबीन और सुरक्षा ? आज यह इन्तजाम बिलकुल अक्षमता के साथ स्कूलों के द्वारा किया ही जाता है जो कि भारी भरकम नौकरशाही की नालायकी का विशेष लक्षण है। यदि हम भेंट-बहस की मीटिंगों की पहल को सुमेल बिठाने के

इच्छाओं पर छोड़ दें, जो ऐसे संगठन हैं कि जिन्हें आज शैक्षणिक संस्था नहीं कहा जा सकता, वे बहुत करके उस काम को ज्यादा ही बेहतर ढंग से करेंगे। मैं कल्पना करता हूँ कि चायघरों के मालिक प्रकाश, टेलीफोन से सूचना प्रदान करने वाली सेवाएं, डिपार्टमेन्ट-स्टोर मैनेजर और रोजाना-सफर-करने वालों की ट्रेनों के कर्मचारी अपनी सेवाओं को शैक्षणिक-मीटिंगों के लिए प्रदान करके उन्हें ज्यादा ही आकर्षक बनाएंगे।

जैसे किसी चायघर में अपनी पहली मीटिंग के दौरान मिलें आपसी-मुलाकाती, चाय पीते हुए, विचारणीय पुस्तक को सामने रखकर अपनी-अपनी पहचान स्थापित कर लें। इस मीटिंग को जमाने की पहल करने वाले लोग आसानी से जान लेंगे कि जिन लोगों को मिलने के लिए बुलाया गया है उनके सामने कौन-सी बातों को उठाया जाय : यह जोखिम रहेगा कि कुछ या कई अजनबियों के बीच स्वयं-चुनी बहस में समय की बरबादी, निराशा और यहां तक कि बेरुखी हो, लेकिन ये सारा जोखिम कॉलेज में दाखिल होने वाले किसी उम्मीदवार के सामने खड़ी आशंकाओं से कम ही होगा। किसी राष्ट्रीय-पत्रिका में छपे किसी लेख पर, उपनगर के चाय घर में, कम्प्यूटर-आयोजित मीटिंग में, किसी भी सहभागी बहसकर्ता को अपने नये परिचितों के बीच, चायपान के वक्त से अधिक देर तक ठहरना अनिवार्य नहीं है, अथवा, दुबारा फिर मिलने के लिए इकट्ठा होने की बाध्यता नहीं है। लेकिन इस तरह की गतिविधि से किसी आधुनिक नगर में मनुष्य की जिन्दगी पर छाये हुए कोहरे को चीरने में मदद मिलेगी और नई मित्रता, स्वयं-पसन्द काम और व्याख्यात्मक अध्ययन में वृद्धि होगी। इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि इस प्रकार की निजी मीटिंगों और व्यक्तिगत आलेख-वाचनों का रिकार्ड एफ. बी. आई. द्वारा तैयार हो सकता है, लेकिन आज 1970 में किसी आजाद आदमी को इस पर क्यों चकराना चाहिये ? एफ. बी. आई. के भेदिया-खोज काम के अन्तर्गत अनेक ऊलजलूल जानकारियों को इकट्ठा करने के खर्च में वह चाहे-अनचाहे अपना हिस्सा आज ही दे रहा है।

हुनर—विद्याओं का विनिमय और सहभागी विचारकों का सुमेल, ये दोनों काम इस अवधारणा पर आधारित हैं कि सभी के लिए शिक्षा का अर्थ है—सभी के द्वारा शिक्षा। विशिष्ट प्रयोजन हेतु बनी किसी संस्था में जबर्दस्ती भर्ती के द्वारा कतई नहीं बल्कि समूची आबादी को गतिमान करके ही सार्वजनिक संस्कृति की राह बन सकती है। ज्ञान लेने और शिक्षा देने में अपनी दक्षता का उपयोग करने

9833

का, प्रत्येक आदमी को प्राप्त समान अधिकार, आज ठप्पा-लगे शिक्षकों ने पहले-से-ही हथिया लिया है। फलस्वरूप शिक्षकों की दक्षता उतने तक ही सीमित रह गयी है कि जितना काम स्कूल के अन्दर ही किया जा सके। काम और अवकाश एक-दूसरे से विलगित कर दिये गये हैं जिसका प्रतिफल यह हुआ है : दर्शक और श्रमिक दोनों से एकसमान अपेक्षा की जाती है कि वे काम के उस स्थान पर आयें जहां उनके लिए कोई तैयार कार्यचक्र है और उसमें वे फिट हो जायें। किसी उत्पादित पदार्थ के डिजाइन, निर्देश और प्रचार के मालिक बने रूप में ढलकर स्कूलिंग के द्वारा सिर्फ औपचारिक शिक्षा की हद तक ही जीवन में अपनी भूमिका के लिए उन्हें आकार मिलता है। स्कूलीकृत समाज के क्रांतिकारी विकल्प और हुनर-विद्याओं के औपचारिक अर्जन के लिए और उनके शैक्षणिक उपयोग के लिए किसी बिलकुल नयी औपचारिक बनावट की जरूरत तो है ही। स्कूल-मुक्त (डी स्कूल) समाज में स्थितिजन्य या अनौपचारिक शिक्षा के लिए कोई नया रुख अन्तर्निहित है।

स्थितिजन्य शिक्षा अब फिर से मध्यकालीन-कस्बाई अथवा ग्रामीण ज्ञान-सीख के रूपों की ओर लौट नहीं सकती। परम्परागत समाज सार्थक संरचनाओं के संकेंद्रीय वृत्तों के किसी समुच्चय की तरह था, जबकि आधुनिक आदमी के लिए यह सीखना जरूरी है कि वह उन अनेक संरचनाओं में अर्थ खोजे जिनसे उसका संबंध बिलकुल सतही है। गांव में, भाषा, स्थापत्य, कामकाज, धर्म, और कौटुम्बिक रीति-रिवाज एक-दूसरे में गुँथे हुए थे, परस्पर बोधगम्य और बल-वर्द्धक थे। उनमें से किसी भी एक में विकास का अर्थ होता था सभी में विकास। विशेष शिल्प-शिक्षण भी विशेष गतिविधियों का आकस्मिक नतीजा ही था, जैसे कि मोचीगिरी या भक्तिगीत-गायन। जो प्रशिक्षणार्थी विद्वान या ज्ञानी नहीं बन पाता था, वह भी धर्मकारी करता ही था अथवा धर्म-सेवाओं में गंभीरता से संलग्न रहता ही था। "समय" के लिए शिक्षा कभी भी "कामकाज" या "अवकाश" के साथ प्रतिस्पर्धा नहीं करती थी। लगभग सारी-की-सारी शिक्षा जटिल, जीवनपर्यन्त और बिना-नियोजन होती थी।

समसामयिक समाज सचेत अभिप्रायों का प्रतिफल है, अतः शैक्षिक अवसरों का उनमें फिट होना नियत है। स्कूल के द्वारा विशिष्ट, पूर्व-कालिक प्रशिक्षण पर हमारी निर्भरता अब घटती ही जायेगी, और हमें ज्ञानप्राप्ति एवं शिक्षण के

ज्यादा तरीके खोजना होंगे; सभी संस्थाओं की शैक्षणिक गुणवत्ता फिर से बढ़नी ही चाहिये। लेकिन यह अत्यंत गोलमोल भविष्यवाणी है। इसका मतलब हो सकता है कि आधुनिक नगर के लोग, जब वे उस नाजुक स्वतंत्रता की उस क्षीण उपस्थिति से भी वंचित कर दिये जायेंगे जो कि कुछ उदार स्कूल चाहे कुछ छात्रों के लिए ही उपलब्ध करा रहे हैं तब वे समग्र शिक्षण और अंदाजी-अटकल (मैनिपुलेशन), दोनों ही की बलात्कारी की प्रक्रिया की चोट में अधिकाधिक आ जायेंगे।

इसका यह मतलब भी होगा कि लोग स्कूल में हासिल किये गये प्रमाणपत्रों से सुरक्षित महसूस करना छोड़ेंगे और उसके कारण उनमें "जबान चलाने" का साहस उपजेगा और यह भी होगा कि इस तरह वे उन संस्थाओं कि जिनमें वे हिस्सा ले रहे हैं, उनका नियंत्रण और निर्देशन करें। दूसरी संभावना को सुनिश्चित करने के लिए हमें शैक्षिक आदान-प्रदान के द्वारा "काम" और "अवकाश" के सामाजिक मूल्य का आकलन करना होगा जिसके लिए वे संस्थाएँ अवसर प्रदान करती हैं। शैक्षणिक संस्थाओं के रूप में उनके स्तर को आंकने का सर्वश्रेष्ठ पैमाना है : किसी मोहल्ले की राजनीति में, किसी फैक्ट्री में, किसी पुस्तकालय में, किसी समाचार-विचार कार्यक्रम में, अथवा किसी अस्पताल में असरदायक हिस्सेदारी।

हाल ही में मैंने जूनियर हाईस्कूल के छात्रों के एक ग्रुप से, अगली कक्षा की सीढ़ी चढ़ने के लिए अनिवार्य उपस्थिति के खिलाफ एक आंदोलन के आयोजन की प्रक्रिया के दौरान चर्चा की थी। उनका नारा था : "अंधानुकरण बंद करो-साझेदारी शुरू करो।" वे निराश हुए थे कि उनके आंदोलन का गलत अर्थ निकाला गया कि जैसे यह शिक्षा को घटाने की बात है; उस वक्त मुझे गोथा-प्रोग्राम में उल्लेखित एक परिच्छेद याद आया — सौ वर्ष पूर्व — कार्ल मार्क्स ने जिसका विरोध किया था; वह परिच्छेद था : बाल मजदूरी गैरकानूनी हो। उसने उस प्रस्ताव का इसलिए विरोध किया था कि किशोरों को काम के दौरान ही शिक्षा मिल सकती है। यदि मनुष्य के परिश्रम का सर्वश्रेष्ठ फल उससे (परिश्रम से) शिक्षा पाना है और ऐसा अवसर पाना है कि जिसे काम उसे प्रदान करता है ताकि उस अवसर के द्वारा वह अन्य लोगों को शिक्षित करने की पहल कर सके, तब तो आधुनिक समाज का शैक्षिक अर्थ में अलगाव होना उसके आर्थिक अलगाव से भी बदतर है।

किसी समाज को सच्चे तरीके से शिक्षा देने के रास्ते में अड़ी हुई सबसे बड़ी बाधा की परिभाषा शिकागो में बसे मेरे एक काले मित्र ने मुझे बताई कि हमारी कल्पनाएं **"समूची स्कूलीकृत हो गई है।"** हम राज्य को पूरी छूट देते हैं कि वो ही उसके नागरिकों की शैक्षणिक खामियों की तलाश करे और विशेषज्ञों की कोई एजेन्सी उन खामियों के उपचार हेतु स्थापित करे। इस प्रकार हम इस भ्रांति के साझेदार हो जाते हैं, कि हम यह भेद कर सकते हैं कि दूसरों को कौनसी शिक्षा जरूरी है कौनसी नहीं है, ठीक उसी तरह से जैसे पुराने जमाने में पिछली पीढ़ियों ने कानून बना दिया था कि कौनसी बात पवित्र है और कौनसी अपवित्र।

दुरखेम ने खोज लिया था कि सामाजिक यथार्थ को दो क्षेत्रों में विभाजित करने वाला यह गुण औपचारिक धर्म का मूल सार है। उसने विचार किया कि कुछ धर्म बिना अलौकिक शक्ति वाले हैं तो कुछ बगैर देवताओं वाले हैं, लेकिन कोई भी ऐसा नहीं है जो संसार को वस्तुओं में, समयों में, व्यक्तियों में इस तरह विभाजित नहीं करता हो कि उनमें से कुछ पवित्र हैं फलस्वरूप शेष अपवित्र हैं। दुरखेम की इस गहरी विवेचना को शिक्षा के समाजशास्त्र पर लागू किया जा सकता है क्योंकि स्कूल भी मूलतः उसी तरह से विभाजित है।

अनिवार्य उपस्थिति के आधार पर स्थापित स्कूलों का होना ही किसी भी समाज को दो क्षेत्रों में विभाजित करना है : एक तरह के क्षेत्र में समय-अवधियाँ विधियाँ, उपचार और व्यवसाय "अकादमिक" या "शैक्षिक" है तथा दूसरी तरह के क्षेत्र में वैसे नहीं हैं। इस प्रकार स्कूल के पास सामाजिक यथार्थ को बांटने की ताकत असीम है : शिक्षा अ-सांसारिक हो जाती है और संसार अ-शैक्षिक।

बानहोफर के समय से समसामयिक धर्माचार्यों ने बाईबिल-के-संदेश और संस्थागत धर्म के दरम्यान व्याप्त विभ्रमों की ओर इशारा किया है। वे उस अनुभव को इंगित करते हैं जो लोक व्यावहारिकता (सिक्युलराइजेशन) के द्वारा ईसाई स्वतंत्रता और ईसाई धर्म को प्रायः प्राप्त होता है। अवश्य ही उनके वक्तव्य अनेक धार्मिकों को अधार्मिक लगते होंगे। निसंदेह, समाज को स्कूल-मुक्त करने से शैक्षिक प्रक्रिया को लाभ पहुंचेगा, लेकिन यह मांग अनेक स्कूलवादियों को ज्ञानोद्दीप्ति के खिलाफ बगावत की तरह लगेगी। हालांकि आज स्वयं ज्ञानोदीप्ति ही स्कूलों से निष्कासित की जा रही है।

ईसाई धर्म का लोकव्यावहारीकरण, चर्च में जड़ जमाये ईसाइयों के द्वारा ही, लोकव्यावहारीकरण के प्रति अपने को समर्पित करने पर निर्भर करता है। बिलकुल उसी तरह ही, शिक्षा का स्कूल-विमुक्तिकरण भी उन्हीं के नेतृत्व पर निर्भर करता है कि जो स्कूलों में ही पड़े हैं। उनका पाठ्यक्रम उन्हें इस उद्यम के लिए किसी अन्य स्थिति के योग्य नहीं बनाता : हम में से प्रत्येक अपना जो हश्र हुआ है उसके लिए जिम्मेवार है, गोकि इस जिम्मेदारी को अपराध-कुबूल की तरह स्वीकार करके वह दूसरों के लिए एक चेतावनी बनकर अपने को प्रस्तुत कर सकता है।

2

स्कूल का प्रपंच

कुछ शब्द इतने अधिक लचीले हो जाते हैं कि वे अपनी उपयोगिता खो देते हैं। 'स्कूल' और "शिक्षण" वैसे ही शब्द हैं। एक अमीबा की तरह वे भाषा की किसी दरार में फिट हो जाते हैं। ए. बी. एम. रूसियों को पढ़ा देगा, आई. बी. एम. नीग्रो बच्चों को पढ़ा देगा और सेना किसी देश की पाठशाला बन सकती है।

इसलिए शिक्षा में विकल्पों की खोज सहमति के उस बिन्दु से प्रारंभ होना चाहिये कि हम "स्कूल" का क्या अर्थ लेते हैं। यह कई तरीकों से किया जा सकता है। हम एक फेहरिस्त बना सकते हैं कि आधुनिक स्कूली तंत्रों के द्वारा प्रयुक्त होते अगोचर कृत्य कौन-कौन से हैं, जैसे; अभिभावक की देखरेख (कस्टोडियल केअर), चयन (सिलेक्शन), मत-शिक्षण (इनडाक्ट्रिनेशन) और ज्ञानप्राप्ति (लर्निंग)। हम उपभोक्ताओं के विश्लेषण से निष्कर्ष निकालकर जांच सकते हैं कि इन अगोचर कृत्यों में से कौन-कौन से कृत्य शिक्षकों, व्यवस्थापकों, बच्चों, माता पिताओं अथवा व्यवसायों (प्रोफेशन्स) की सु-सेवा अथवा कु-सेवा करते हैं। चाहें तो, पश्चिमी संस्कृति के इतिहास और मृतत्वशास्त्र के द्वारा एकत्रित सूचनाओं का सर्वे कर सकते हैं ताकि उन संस्थाओं की चीन्ह सकें जो वही भूमिका निभाती थी जिसे अब स्कूलों के द्वारा निभाया जाता है। अंत में, हम उन अनेक मानक वचनों को पुनः याद कर सकते हैं जो कि कोमेनियस के, बल्कि क्विन्टिलिआन के समय में दिये गये थे, और खोजबीन कर सकते हैं कि आधुनिक स्कूली तंत्र उनमें से किसके अत्यंत समीप है। हालांकि इनमें से कोई-सा भी रास्ता, हमें स्कूल और शिक्षा के दरम्यान सम्बन्ध के बाबत् जांच-पड़ताल को किसी खास अवधारणा के साथ आरम्भ करने के लिए ही बाध्य करेगा अतः, किसी ऐसी भाषा के विकास के लिए जिसमें हम स्कूल के विषय में वैसे सनातन शिक्षायी अवलंबनों के बगैर ही चर्चा कर सकें, मैंने कुछ ऐसी बात से बहस आरंभ करना पसन्द किया है जिसे सार्वजनिक स्कूल का घटना-क्रिया-विज्ञान कह सकते हैं (फेनामेनालॉजी ऑफ पब्लिक स्कूल)। इस काम के लिए मैं "स्कूल" को आयुवद्ध और शिक्षक-बद्ध प्रक्रिया के उस रूप में परिभाषित करूंगा जिसमें किसी अनिवार्य पाठ्यक्रम के लिए पूर्ण-कालिक उपस्थिति जरूरी है।

आयु

स्कूल आयु के अनुसार लोगों का समूहन करता है। वह समूहन तीन अकाट्य परिसीमाओं पर निर्भर करता है। बच्चे स्कूल से संलग्न हैं। बच्चे स्कूल में सीखते हैं। बच्चे सिर्फ स्कूल में ही पढ़ाये जा सकते हैं। मैं सोचता हूँ इन अनजांची अनपरखी परिसीमाओं पर गंभीर शंकाएँ उठाई जानी चाहिये।

हम बच्चों के बाबत् अभ्यस्त हो गये हैं। हमने तय कर लिया है कि उन्हें स्कूल जाना ही चाहिये, जो कहा जाये वह उन्हें करना ही चाहिये, और उनकी स्वयं की कोई आमदनी अथवा परिवार नहीं होना चाहिये। हम उनसे उम्मीद करते हैं कि वे अपनी सीमाओं को पहचानें और बच्चों की तरह ही व्यवहार करें। हम स्वयं, अतीत-प्रेम के कारण अथवा कटुता से, उस वक्त की याद करते ही रहते हैं कि जब हम स्वयं बालक थे। हम अपने से आशा रखते हैं कि बालकों के बचकाने व्यवहार को बर्दाश्त करें। हमारे लिए मानवजाति एक ऐसी नस्ल है कि जो बालकों की देखभाल के काम से व्यथित और आनंदित दोनों है ही। लेकिन, हम यह बिल्कुल भूल जाते हैं कि "बचपन" की हमारी वर्तमान धारणा हाल ही में पश्चिमी-यूरोप में और अब तो अमेरिकाओं में विकसित हुई है। *

इतिहास के लगभग समूचे कालों में यह एकदम अज्ञात था कि बचपन कुछ वह है जो शैशव या कैशोर्य अथवा जवानी से कोई भिन्न बात है। कुछ ईसाई शताब्दियों में तो उसके शारीरिक छोटेपन को देखने की नजर भी नहीं थी। कलाकारों ने शिशु को इस तरह चित्रित किया जैसे वह मां की भुजा पर बैठा कोई लघुरूप-वयस्क हो। यूरोप में बच्चे जेबघड़ियां रखे हुए और रेनेसां के ईसाई महाजनों के साथ दिखाये गये हैं। हमारी शताब्दी के पूर्व, गरीब अथवा अमीर, कोई भी, बच्चों की ड्रेस के बारे में, बच्चों के खेलों के विषय में, अथवा कानून-से-बच्चों-की-अनभिज्ञता के बाबत् कुछ भी नहीं जानता था। बचपन सिर्फ बुरे वक्तों की घटना थी। मजदूर का, किसान का, और कुलीन लोगों का बच्चा वैसे ही कपड़े पहनता था जैसे उनके पिता पहनते थे; वही खेल खेलता था जो उनके पिता खेलते थे और उसी तरह सूली पर चढ़ा दिया जाता था जैसे उनके पिता लोग।

* [आधुनिक पूंजीवाद और आधुनिक बचपन के समानांतर इतिहासों के लिए फिलिप एरिस की पुस्तक, "सेंचुरीज ऑफ चाइल्डहुड" पढ़िये। प्रकाशक—कॉफ, 1962, और पैंग्विन 1973.]

बुर्जुवाओं के द्वारा खोजे गये "बचपन" के बाद सब कुछ बदल गया। सिर्फ कुछ गिरजों ने ही कुछ समय तक किशोरों के सम्मान और उनकी प्रौढ़ता की कद्र की। दूसरी वेटिकन कौंसिल तक भी प्रत्येक बच्चे को शिक्षा दी जाती थी कि कोई भी ईसाई सात वर्ष की आयु का होते ही विवेक और स्वतंत्रता की सीमा में पहुंच जाता है कि उसके बाद से वह अपने गुनाह का, और अपने पाप का स्वयं जिम्मेदार है—कि जिसके लिए वह नर्क में मृत्यु-उपरांत सजा पाये। इस शताब्दी के मध्य तक, मध्यवर्गीय माता-पिताओं ने अपने बच्चों को इस सिद्धांत के प्रभाव से विमुक्त करने का प्रयास शुरू किया, और अब बच्चों के बाबत् उनका विचार चर्च के आचार व्यवहार में व्याप्त हो गया।

पिछली शताब्दी तक भी, मध्यवर्गी लोगों के "बच्चे" अपने घरों में ही गुरुओं द्वारा और निजी स्कूलों के द्वारा ही पढ़ाये-लिखाये जाते थे। औद्योगिक समाज के प्रादुर्भाव से ही "बचपन" का विशाल उत्पादन संभव हुआ और वह आम जनता की पहुंच तक आ गया। स्कूल सिस्टम वह आधुनिक घटनाचक्र है कि जो "बचपने" का उत्पादन करता है।

क्योंकि आज अधिकांश लोग औद्योगिक नगरों के बाहर रहते हैं, अतः अधिकांश लोग बचपन का अनुभव नहीं करते। एंडीज क्षेत्र में कोई भी जैसे ही "उपयोगी" हो गया, वह जमीन जोतने के काम में लग जाता है। उसके पूर्व वह भेड़ चराता है। यदि उसे उपयुक्त भोजन मिला हो तो वह ग्यारह की आयु में उपयोगी हो जाता है, अन्यथा बारह की आयु में तो निश्चय ही। हाल ही, मैं अपने चौकीदार, मार्कोस, से उसके ग्यारह वर्षीय बच्चे के बारे में बात कर रहा था जो एक नाई-दुकान पर काम करता था। मैंने स्पेनिश भाषा में टिप्पणी की कि उसका लड़का तो अभी "निनो' है। मार्कोस थोड़ा चकराया, लेकिन निश्छल मुस्कान भर के बोला : "डान ईवान, शायद आप सही हैं।" इस बात को महसूस करते हुए कि मेरी टिप्पणी के पूर्व तक पिता उसे मूलतः अपना पुत्र समझता था, मैंने अपने आपको अपराधी महसूस किया कि मैंने दो समझदार व्यक्तियों के दरम्यान "बचपने" का पर्दा खींच दिया। गोकि, यदि मैंने न्यूयार्क के स्लम-निवासी के मजदूरी करते पुत्र के बारे में कहा होता कि वह तो अभी "बच्चा" है तो उसने (स्लम-निवासी पिता ने) कोई अचरज नहीं दिखाया होता। वह तो बखूबी जानता है कि उसके ग्यारह वर्षीय बालक को "बचपना" मिलना चाहिये,

अतः वह गरजता है कि उसका पुत्र वंचित किया जा रहा है। मार्क्वेस के पुत्र को अभी "बचपन" की तड़फ से कलंकित करना बाकी है, और, न्यूयार्क का स्लम-निवासी पुत्र "बचपन" भोगने से वंचित कर दिया गया ऐसा महसूस करता है।

संसार के अधिकांश लोग, अपने बच्चे के लिए आधुनिक "बचपन" को या तो चाहते नहीं हैं अथवा वह उन्हें मिलता ही नहीं है। हालांकि यह भी सच है कि उन कुछ लोगों में कि जिन्हें बचपन बिताने की सुविधा मिली हुई है उनमें भी एक अच्छी संख्या में ऐसे भी हैं जो "बचपन" को बोझ मान रहे हैं। अनेक तो उसमें से गुजरने के लिए बाध्य किए गए हैं क्योंकि बच्चे की भूमिका अदा करने में उन्हें जरा भी प्रसन्नता नहीं है। "बचपन" के जरिये बड़ा होना, इसका अर्थ है : "आत्म-सजगता" और "अपने ही स्कूल-युग से गुजर रहे समाज के द्वारा थोपी क्रूर भूमिका" के दरम्यान अमानवी अंतर्द्वंद की प्रक्रिया से अभिशप्त होना। स्टीफन डाएडालुस अथवा एलेक्जेंडर पोर्टनोय में से किसी ने भी "बचपन" नहीं देखा, और मुझे संदेह है कि हममें से किसी ने अपने को बच्चे की तरह समझा जाना पसंद किया होगा।

यदि आयु-बद्ध और अनिवार्य शिक्षा की संस्थाएँ नहीं होती तो "बचपन" का उत्पादन बंद हो जाता। धनी देशों के समस्त किशोर उसकी ("बचपन" की) तबाही से मुक्त हो जाते, और, गरीब देश धनी देशों के बचकानेपन से प्रतिस्पर्धा करने का प्रयास त्याग देते। यदि समाज अपने 'बचपन" के काल की सीमा लांघ जाये तो वह किशोरों के लिये जीने योग्य हो जायेगा। तब मानवी बने होने का स्वांग भरे हुए "वयस्क समाज" और सच्चाई की मशाल उड़ाते "स्कूली वातावरण" के दरम्यान वर्तमान बेमेल कायम नहीं रह सकेगा।

स्कूलों का विस्थापन शिशुओं, वयस्कों और वृद्धों में [उनके समूचे कैलोर्स (एडोलेसेंस) और यौवन के दौरान] बच्चों की तरफ पक्षपात बरतने से उठने वाले वर्तमान भेदभाव को भी मिटा देगा। शैक्षिक संसाधनों के आवंटन के लिए सामाजिक निर्णय [खासकर के उन नागरिकों के लिए कि जो अपने प्रथम चार वर्ष की शिक्षाप्राप्ति की विलक्षण क्षमता की सीमा लांघ चुके हैं और अपनी आत्म-प्रेरित (सेल्फ मोटिवेटेड) शिक्षाप्राप्ति की इच्छा की ऊँचाईयों तक नहीं पहुंच पाये हैं] अतीत की ओर देखते हुए, बेतुका लगता है।

संस्थायी सोच कहता है कि बच्चों को स्कूल चाहिये। संस्थायी सोच कहता है कि बच्चे स्कूल में ज्ञान प्राप्त करते हैं। लेकिन यह संस्थायी सोच स्वयं ही स्कूलों का उत्पाद है क्योंकि सुगठित सामान्य ज्ञान हमें बताता है कि सिर्फ बच्चे ही स्कूलों में पढ़ाये जा सकते हैं। मनुष्यों को बालकपन की श्रेणी में पृथक करके ही हम उन्हें किसी स्कूलटीचर की सत्ता के सामने झुका पाये हैं।

शिक्षक और छात्र

परिभाषानुसार बच्चे छात्र हैं। बचपन की अवस्था की मांग अधिकार-प्राप्त शिक्षकों के लिए असीम बाजार खोल देती है। स्कूल ऐसी संस्था है कि जो इस स्वयं-सिद्धि पर आधारित है कि ज्ञान शिक्षण का प्रतिफल है। और, संस्थायी सोच इस स्वयंसिद्धि को मानते ही चला जाता है, जबकि प्रमाण बहुतायत में उसके विपरीत हैं।

हम जो कुछ जानते हैं उसका अधिकांश हमने स्कूलों के बाहर ही सीखा है। छात्र अपनी ज्ञानप्राप्ति का अधिकांश, शिक्षकों के होने के बावजूद उनके बगैर ही करते हैं। सबसे दुखदायी बात तो यह है, कि मनुष्य की आबादी का अधिकांश, स्कूलों के द्वारा पढ़ाया जाता है, जबकि वे कभी भी स्कूल नहीं जाते।

प्रत्येक यह सीखता है कि स्कूल के बाहर कैसे रहा, जिया जाये। हम बगैर शिक्षक के सीखते हैं कि बोला कैसे जाये, सोचा कैसे जाये और काम कैसे किया जाये, अनुभव कैसे किया जाये, खेला कैसे जाये, राजनीति कैसे की जाये और काम कैसे किया जाये ? वे बच्चे भी कि जो दिन-रात किसी शिक्षक की निगरानी में ही हैं, वे भी इस नियम के अपवाद नहीं हैं। अनाथ, मूढ़, और स्कूल-टीचर के बच्चे जो कुछ सीखते हैं, उसका अधिकांश वे उनके लिए आयोजित शैक्षिक प्रक्रिया के बाहर से ही सीखते हैं। गरीबों को पढ़ाने के ज्यादा-ज्यादा प्रयास में शिक्षकों ने बड़ा भद्दा मुंह दिखाया है। गरीब माता-पिता कि जो अपने बच्चों को स्कूल भेजते हैं उन्हें इसकी जरा-सी भी चिंता नहीं है कि वे वहां क्या सीखते पढ़ते हैं : उन्हें तो सिर्फ "सर्टिफिकेट" की, और वहां मिलने वाले वजीफे के रुपयों की ही फिक्र रहती है। और, मध्यवर्गी माता-पिता अपने बच्चों को शिक्षक की निगरानी में डालते हैं तो इसलिए कि वे उन्हें उन गरीब बच्चों से दूर रखें जो सड़कों पर सीख रहे हैं।

शिक्षार्थी खोज से अब यह बड़े पैमाने पर प्रगट होने लगा है कि बच्चे सहपाठी समूहों (Peer Groups) से, कॉमिक्स से, वस्तुओं या घटनाओं को संयोगवश देखने से, और सबसे अधिक तो महज स्कूल के कर्मकांड (रिचुअल) में शामिल होने भर से सीखते हैं कि जिसका शिक्षक झूठा दम भरते हैं जैसे वो सब उन्होंने सिखाया हो। शिक्षक तो सदैव ही, स्कूल में चलती हुई, निरर्थक वस्तुओं की इस ज्ञानप्राप्ति को रोकते ही रहते हैं।

हमारे संसार के आधे लोग कभी भी स्कूल में कदम नहीं रखते। शिक्षकों से उनका कोई संपर्क नहीं है, और वे ग्रेजुएट हो जाने की विशेष-सुविधा या रियायत से वंचित हैं। फिर भी, वे उस संदेश को बिलकुल ध्यान से ग्रहण करते हैं कि जिसे स्कूल पढ़ाता है : कि उन्हें स्कूल मिलना चाहिये, और कि वह उन्हें अधिक-से-अधिक मिलना चाहिये। उनके इस हीन-भाव में स्कूल ही उन्हें भरता है, उस कर-वसूलदार (टैक्स-कलेक्टर) के द्वारा कि जो उन्हें उसी के (स्कूल के) लिए कर देने को राजी करता है, या उस बाजार नेता के द्वारा कि जो उनमें उम्मीदें जगाता है, या उन बच्चों के द्वारा जो उससे (स्कूल से) चिपक गये हैं। अतः किसी ऐसे पंथ का समर्थन करके गरीब लोग अपने आत्म-सम्मान से हाथ धो बैठते हैं जो उन्हें सिर्फ स्कूल के द्वारा ही मोक्ष प्रदान करने की अनुमति देता है। कम-से-कम चर्च ने उन्हें मृत्यु के समय प्रायश्चित करने का अवसर तो दिया था। स्कूल उनमें वह अपेक्षा (कृत्रिम आशा) भरता है कि उनके नाती पोते उसे हासिल करेंगे। यद्यपि यह अपेक्षा ज्यादा बड़ी ज्ञान प्राप्ति के लिए ही है जो स्कूल से बनती है लेकिन शिक्षकों से नहीं।

छात्रों ने अपनी अधिकांश ज्ञानप्राप्ति के लिए कभी भी शिक्षकों को मान नहीं दिया। प्रखर या सुस्त, दोनों ही छात्र, सदैव ही, परीक्षा पास करने के लिए, रटने, पढ़ने और अपनी बुद्धि लगाने पर ही निर्भर रहे जो या तो डंडे के डर से उत्प्रेरित होती थी अथवा एक उम्दा पेशा (कैरियर) बना लेने के लालच से।

वयस्क लोग अपने स्कूलिंग (पाठशालायी समय) को रोमांसी बनाते हैं। अपनी अतीत-स्मृति में, वे अपनी ज्ञानप्राप्ति के लिए शिक्षक की कद्र करते हैं कि जिसका धैर्य प्रशंसनीय था। लेकिन वे ही वयस्क किसी बच्चे के मानसिक स्वास्थ्य के बारे में चिंतित हो जाते हैं जब वह घर पहुंच कर उन्हें वह सब बतलाता है जो उसने उसके प्रत्येक शिक्षक से सीखा।

स्कूल स्कूलटीचरों के लिए नौकरियों का निर्माण करते हैं, यह विचारे बिना कि उनके छात्र उनसे क्या सीखते हैं।

पूरे समय की उपस्थिति

हर महीने मैं प्रस्तावों की एक लिस्ट देखता हूँ जो कि किसी अमेरिकी (यू. एस. ए. की) इंडस्ट्री के द्वारा ए. आई. डी. (AID) को सुझाये गये हैं, कि लैटिन अमेरिकन "क्लासरूम प्रेक्टिशनर" को या तो अनगणित प्रशासनिक तंत्र के द्वारा अथवा महज टी. वी. के द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया जाये। सं. रा. अमेरिका में शिक्षा को शिक्षाविदों, डिजाइनरों और तकनीशियनों के संयुक्त उद्यम के रूप में मान्यता मिलती जा रही है। लेकिन, चाहे शिक्षक बहिन-जी ही अथवा सफेद कोट पहने हुए आदमियों की टीम हो, और चाहे वे पाठ्यक्रम में निर्धारित विषय-वस्तुओं को सफलता से पढ़ा दें या उसमें असफल हों; किसी भी हालत में, व्यावसायिक शिक्षक एक भव्य, दैवी क्रिया का ही निर्माण करता है।

व्यावसायिक शिक्षण (प्रोफेशनल टीचिंग) के भविष्य की अनिश्चितता क्लासरूम को संकट में डाल देती है। यदि कुछ में शिक्षा के व्यावसायीगण (एजुकेशनल प्रोफेशनल) ज्ञानप्राप्ति की तरक्की में विशेषज्ञता प्राप्त करना चाहते तब तो उन्हें उनके उस तंत्र को त्यागना पड़ता कि जिसमें प्रति वर्ष 750 से लगाकर 1000 "पीरियड" लगाकर "सभा करने" की जरूरत लगती ही है। सिर्फ इतना ही नहीं, शिक्षक और भी बहुत कुछ करते हैं। स्कूलों का संस्थायी विवेक माता-पिताओं, छात्रों और शिक्षाविदों का बतलाता है कि यदि शिक्षक को पढ़ाना है तो उसे किसी परिभाषित परिसीमा में अपने अधिकार का उपयोग करना ही चाहिये। यह उन शिक्षकों के लिए भी सच है कि जिनके छात्र अपना अधिकांश स्कूली-समय ऐसे खुले क्लासरूम में बिताते हैं जो बगैर दीवालों के हैं।

अपनी मूल प्रकृति से ही, स्कूल, अपने सहभागियों के समय और ऊर्जाओं पर समूचा अधिकार जताने की ओर प्रवृत्त रहता है। फलस्वरूप, यह बात, शिक्षक को संरक्षक, उपदेशक और चिकित्सक बना देती है।

इन तीनों भूमिकाओं में से प्रत्येक में, शिक्षक अपनी सत्ता को भिन्न दावे पर टिकाता है :—

"संरक्षक-शिक्षक" (टीचर एज कस्टोडियन) **के रूप में** वह सदाचारों-शिष्टाचारों के मालिक की भूमिका अदा करता है, जो अपने छात्रों को निर्धारित पेचीदा कर्मकांडों के द्वारा दिशानिर्देश देता है। वह नियमों के पालन की मध्यस्थता करता है, और, जीवन के उपक्रम के जटिल निर्देश घोंट कर पिलाता है। अपने सर्वोत्तम रूप में वह किसी हुनर को हासिल करने का मंच सेट करता है जो स्कूलमास्टरों में अक्सर होता है। किसी प्रकांड ज्ञानप्राप्ति की भ्रांतियों के बिना वह अपने छात्रों को किन्हीं बुनियादी दिनचर्याओं के कठोर अभ्यास में बांधे रखता है।

"उपदेशक-शिक्षक" ("टीचर एज मॉरेलिस्ट") के रूप में वह माता-पिता का, ईश्वर का, या राज्य का स्थान ले लेता है। वह अपने शिष्यों के दिलों-दिमाग में अच्छे या बुरे का सारा उपदेश भरता है, सिर्फ स्कूल के विषय में ही नहीं बल्कि समूचे समाज के बारे में। वह प्रत्येक के लिए **लोको पेरेंटिस** बनकर आता है और इस प्रकार वह सुनिश्चित करता है कि सभी अपने को एक ही राज्य के बच्चों की तरह महसूस करें।

"चिकित्सक-शिक्षक" ("टीचर-एज-थेरापिस्ट") के रूप में वह छात्र के ऊपर इतना अधिकार महसूस करता है कि वह उसकी निजी जिन्दगी में घुसकर उसकी सहायता करे ताकि वह व्यक्ति के रूप में विकसित हो। जब यह काम किसी संरक्षक और उपदेशक के द्वारा किया जाये तो उसका अमूमन यही अर्थ होगा कि वह अपने छात्र को बाध्य करता है कि छात्र सत्य की अपनी छवि (विजन) को और अपने उस भावबोध को कि सही क्या है, इन दोनों को ही, शिक्षक के आगे पालतू बना दे।

आधुनिक स्कूल की बुनियाद पर आजाद समाज रचा जा सकता है, यह दावा विरोधाभासी है। व्यक्तिगत आजादी के सारे कवच अपने छात्र के साथ शिक्षक के व्यवहार के कारण टूट जाते हैं। जब स्कूल टीचर अपने व्यक्तित्व में निर्णायक (जज) के, सिद्धांतकर्ता (आइडियालॉग) के, और, डाक्टर के कामों को ठूंसता है, तो समाज की मूलभूत स्टाइल ही उसी प्रक्रिया के द्वारा विकृत कर दी जाती है कि वास्तव में तो जिसे जिन्दगी को तैयार करना चाहिये। वह शिक्षक कि जो इन तीन शक्तियों को अपने में इकट्ठा किये हुए है वह बालक के दिमाग को

समूचा ऐंठने-मरोड़ने में उन कानूनों से भी ज्यादा भारी होता है कि जो बालक को कानूनी एवं आर्थिक रूप से नाबालिग करार देते हैं, या, उसे उस अधिकार से वंचित करते हैं कि वह मुक्त रूप से अपनों में एकत्रित हो या स्वतंत्र बस सके।

बहरहाल वे सिर्फ शिक्षक ही नहीं, अन्य व्यवसायी (प्रोफेशनल्स) भी हैं कि जो चिकित्सक का स्वांग भरते हैं। मनोविश्लेषक (साइकियाट्रिस्ट्स), मार्गदर्शक सलाहकार (गाइडेंस कौंसिलर्स) और रोजगार सलाहकार (जॉब कौंसिलर्स), वकील भी, अपने मुवक्किलों को निर्णय लेने में, अपने व्यक्तित्व का विकास करने में और ज्ञान हासिल करने में मदद करते हैं। फिर भी, उपभोक्ता (Client) का व्यावहारिक ज्ञान (कॉमन सेंस) स्वयं से कहता है कि व्यावसायिक-लोगों को इस बात से दूर रहना चाहिये कि वे यह थोपें कि सही क्या है गलत क्या है, उन्हें उनकी सलाह को जबरन नहीं मनवाना चाहिये। स्कूल टीचर्स और पादरी ऐसे व्यवसायी (प्रोफेशनल्स) हैं कि जो अपने मुवक्किलों के प्राइवेट मामलों में दखल का अधिकार मानते हैं क्योंकि विरासत में आयी हुई प्रजा (ऑडियंस) उनके उपदेश सुनने के लिए रहती ही है।

धर्मनिरपेक्ष (सेक्युलर) पादरी यानी शिक्षक के सामने खड़े हुए बच्चों को न तो पहला और न ही पाँचवा संशोधन बचा पाता है। बच्चे को उस आदमी का सामना करना ही पड़ता है जो एक अदृश्य त्रिमुकुट धारे हुए है, पोप के तिहारा (पापल टिआरा) की तरह: तिहरी सत्ता का प्रतीक जो एक ही व्यक्ति में समाहित है। बच्चे के लिए शिक्षक एक पादरी, उपासक, और मसीहा तीनों का संपूर्ण रूप है—वह एक ही क्षण में किसी पवित्र कर्मकांड का मार्गदर्शक, शिक्षक और प्रशासक है। वह मध्यकालीन पोप के उन दावों को अपने में एकत्र किये हुए है जो उस काल के उस समाज में थे कि जिसके संविधान में यह गारंटी थी कि ये दावे किसी एक स्थापित और अनिवार्य संस्था—चर्च अथवा राज्य—के द्वारा कभी भी एक साथ प्रयोग में नहीं लाये जायेंगे।

बच्चों को जब पूर्णकालिक छात्रों की तरह परिभाषित कर दिया गया हो तो शिक्षक को यह छूट मिल जाती है कि वह उनके मानस के ऊपर के इस तरह का सत्ता-प्रयोग करे जो संवैधानिक एवं रीति-रिवाजी बंधनों से उतना भी

परिसीमित किया हुआ नहीं है कि जितना अन्य सामाजिक समूहों के अभिभावकों के द्वारा प्रयोग में लायी जाती सत्ता के लिए परिसीमित होता है। तिथिक्रमानुसार (क्रोनोलॉजिकल) आयु, बच्चों को उन सुरक्षा-कवचों के लाभ से वंचित कर देती है जो वयस्कों के लिए किसी आधुनिक आश्रम-पागलखाने, मोनेस्टरी अथवा जेल-में सामान्यतः उपलब्ध हैं।

शिक्षक की अधिकार-भरी-सत्तासीन नजरों के दबाव में मूल्यों की अनेकानेक शृंखलाएँ टूट कर एक लाइन में ढल जाती हैं। नैतिकता, वैज्ञानिकता और वैयक्तिक सामर्थ्य के बीच का अंतर धूमिल हो जाता है और अंततः लोप हो जाता है। प्रत्येक उल्लंघन अनेकानेक और तरह-तरह के अपराध की तरह महसूस कराया जाता है। गुनाहगार से ऐसी अपेक्षा की जाती है कि वह महसूस करे कि उसने नियम तोड़ा है, कि उसने अनैतिक व्यवहार किया है, और कि उसने अपने को नीचे गिराया है। कोई छात्र जो किसी परीक्षा में चालाकी से सहायता ले लेता है उसे अवैध (आउटलॉ) भ्रष्ट और निकम्मा करार दिया जाता है।

क्लासरूम में अनिवार्य उपस्थिति बच्चों को उनकी अपनी पश्चिमी संस्कृति की सनातन जिंदगी से दूर कर देती है और उन्हें किसी ऐसे वातावरण में डुबो देती है जो ज्यादा ही आदिम, चमत्कारी और भयावह रूप से गंभीर होता है। स्कूल सामान्य सचाई के नियमों को निलंबित किया हुआ परिसर तभी बना सका कि जब उसने पावन क्षेत्रों के अनेक क्रमगत वर्षों में किशोरों को सशरीर बाँधे रखा। उपस्थिति का नियम ही यह संभव बनाता है कि क्लासरूम किसी जादुई गर्भाशय की तरह काम करे कि जिसमें से नियत-कालिक अवधियों में प्रतिदिन-उपरांत और प्रतिवर्ष-उपरांत तब तक बच्चा उत्पन्न होता रहे कि अंततः वह वयस्कता में फेंक नहीं दिया जावे। विश्व-भर में मान लिया गया, खींच-कर लम्बा किया हुआ बचपन और क्लासरूम का दमघोंटू वातावरण स्कूलों के कारण ही कायम है। लेकिन, स्कूल, ज्ञानप्राप्ति के अनिवार्य माध्यम के रूप में उन दोनों के बगैर भी कायम रह सकता है और ज्यादा भयानक दमनकारी और विनाश-कारी हो सकता है (इतना अधिक कि जितना अन्य कोई भी कभी न हुआ हो)। अतः यह समझने के लिए कि समाज में से स्कूल को भंग कर देने (डीस्कूल सोसाइटी) का क्या अर्थ है, (और कि हम शैक्षणिक व्यवस्था का सुधार नहीं चाहते, समूचा स्कूल-भंग चाहते हैं) तो उसके लिए हमें स्कूल के प्रच्छन्न पाठ्यक्रम

के बाबत विचार करना होगा। हमारी चिंता यह नहीं है कि हम गली-कूँचों के स्कूलों के प्रच्छन्न पाठ्यक्रम को जाँचें जो गरीबों को कलंकित करता है, या कि ड्राइंग-रूम के प्रच्छन्न पाठ्यक्रम को जाँचें जो अमीरों को लाभ पहुंचाता है। हमारा चिंतन तो यह कहता है कि सब लोगों का ध्यान इस बात की ओर खींचें कि "स्कूल-प्रणाली का कर्मकांड" ही उस तरह के प्रच्छन्न पाठ्यक्रम को स्वयं गढ़ा हुआ है। सर्वश्रेष्ठ शिक्षक भी अपने छात्रों को उससे नहीं बचा सकते। अनिवार्यतः स्कूल-प्रणाली का प्रच्छन्न कार्यक्रम, उस भेदभाव में कि जो एक समाज अपने कुछ सदस्यों के खिलाफ लागू करता है, उसमें पूर्वग्रह और अपराध-भाव को भी शामिल कर देता है और चंद अन्य लोगों के लिए, बहुसंख्यक आबादी को हीन समझने वाले विशेषाधिकार को नया तमगा लगा कर दुगना कर देता है। ठीक उतने ही अपरिहार्य रूप से, यह प्रच्छन्न पाठ्यक्रम, अमीर और गरीब दोनों के लिए विकास-अभिमुखी उपभोक्ता समाज की खिदमत करता है: दीक्षा की रस्म के रूप में।

3

प्रगति का कर्मकाण्ड

संसार के सम्पन्न क्षेत्रों में चुनिंदा नौकरियों के लिये ही विश्वविद्यालयीन-स्नातक को संस्थायी शिक्षा दी जाती है। तीसरे विश्व के साथ अपनी एकता का वह चाहे जितना दावा करे, प्रत्येक अमेरिकी कॉलिज-स्नातक पर, उसकी शिक्षा के लिए, दुनिया की आधी मानवता की सारे जीवन भर की आमदनी की प्रति-व्यक्ति औसत आय का पांच गुना खर्च होता है। इस "अनन्य बन्धुत्व" में शामिल होने के लिए किसी लेटिन-अमेरिकन छात्र पर, उसी के देश के आम नागरिक की सारे जीवन भर की औसत आय का कम-से-कम 350 (तीन सौ पचास) गुना खर्च होता है। अत्यंत थोड़े से अपवादों को छोड़कर, गरीब देशों का विश्व विद्यालयीन-स्नातक अपने ही देश के अनपढ़ साथियों के बजाय उत्तरी-अमेरिकी अथवा यूरोपियन स्नातकों की बगल में चलने में ही शान समझता है। सारे विद्यार्थियों को यंत्रिक मशीन के उत्पादनों के सहभागी उपभोक्ताओं के सत्संग में ही खुश-खुश और हिले-मिले रहने के लिए अकादमिक तौर-तरीके से ढाला जाता है।

आधुनिक विश्वविद्यालय मत-विमत रखने के विशेषाधिकार का अभिदान उन्हीं पर न्यौछावर करते हैं जो सामर्थ्यवान धन-उत्पादक अथवा सत्तावान बने रहने के लिए जांचे-परखे और वर्गीकृत किये जा चुके हों। "अवकाश" में अपने को शिक्षित करने के लिए, अथवा दूसरों को शिक्षा देने का अधिकार रखने के लिए, सरकारी-धन सिर्फ उन्हीं को मिलता है जो वैसा करने के साथ-साथ लक्ष-प्राप्ति के लिये भी प्रमाणित हो सकें। स्कूल प्रत्येक अगले स्तर के लिए उन्हीं को चुनता है जो खेल के पूर्व-स्तरों में सामाजिक व्यवस्था की यथास्थिति के लिए उपयुक्त "जोखिम" साबित हो चुके हों। विश्वविद्यालय ज्ञानप्राप्ति के दोनों स्रोतों को बनाये रखने का और सामाजिक भूमिकाओं के पदों पर प्रतिष्ठा प्रदान करते रहने का एकाधिकार रखकर अनुसंधानकर्ता और संभावी विपक्षी, दोनों को, संयुक्त कर देता है। एक डिग्री सदैव उसकी अमिट कीमत को उसके उपभोक्ता के

पाठ्यक्रम पर छोड़ जाती है। प्रमाणित कॉलिज-स्नातक किसी ऐसे संसार में फिट होते हैं कि जो किसी कीमत को उनके बलों में टांगता है और इस प्रकार उन्हें ही उनके समाज में अपेक्षाओं के स्तर को निर्धारित करने की शक्ति प्रदान करता है। अनेक देश में कॉलिज-स्नातक पर होने वाला खर्च अन्य सभी के लिए मानक स्थापित करता है, किसी नौकरी में लगे या न लगे अन्य सभी लोग सभ्य कहलाना चाहते हैं तो वे कॉलिज-स्नातकों की जीवन शैली को अपनाने के आकांक्षी होते हैं।

इस प्रकार विश्वविद्यालय का प्रभाव, काम पर और घरों में भी, उपभोक्ता-मानकों को लागू करने में होता है, और वह वैसा प्रभाव संसार के हर हिस्से में और किसी भी राजनैतिक प्रणाली के अन्तर्गत लागू करता है। किसी भी देश में विश्व विद्यालयीन-स्नातक जितने कम होते हैं, उनके द्वारा संवर्धित मांगों को, उतनी ही ज्यादा सघनता से, आबादी के अन्य लोग प्रतिमानों की तरह लेते हैं। एक विश्वविद्यालयीन-स्नातक पर और एक औसत नागरिक पर होने वाले खर्च के दरम्यान अन्तर रूस, चीन और अलजीरिया में सं. रा. अमेरिका की अपेक्षा और भी ज्यादा है। किसी समाजवादी देश में कारें, हवाई-यात्राएँ और टेप-रिकार्डस् अधिक स्पष्ट भेद उजागर करते हैं कि जहां सहज एक डिग्री (सिर्फ धन ही नहीं) इन भौतिक उपादानों को उपलब्ध करा देती है।

विश्वविद्यालय की यह योग्यता, कि वह उपभोक्ता उद्देश्यों को निर्धारित करे, यह कुछ नई-सी बात है। अनेक देशों में विश्वविद्यालय ने यह शक्ति सातवें दशक में अख्तियार की जब सार्वजनिक शिक्षा को हासिल करने के लिए बराबर और समान दखल का विस्तार प्रारम्भ हुआ था। उसके पूर्व, विश्वविद्यालय व्यक्ति की अभिव्यक्ति की आजादी को तो बचाता था, किन्तु स्वयंमेव उसके ज्ञान को धन में तबदील नहीं कराता था। मध्ययुगों में स्कालर होना याने गरीब होना बल्कि भिखारी होना होता था। "कुछ अच्छा करने की प्रवृत्ति" के गुण के कारण ही, मध्ययुगीन स्कालर लेटिन सीखता था, और इस तरह, ऐसा अजनबी बनता था जो किसी किसान या राजकुमार, किसी आम नागरिक या पादरी की नजरों में तिरस्कृत किये जाने के भी और सम्मानित किये जाने के भी, दोनों ही के, काबिल बनता था। दुनिया में आगे बढ़ने के लिए, अपनी स्कालरों की नागरिक सेवाओं (खास कर चर्च की सेवाओं) में दाखिल होना होता था। प्राचीन विश्वविद्यालय, नये और पुराने, दोनों ही तरह के खयालातों पर बहस और खोजबीन के लिए मुक्त

सेज था। गुरु और शिष्य, उन अन्य महान् गुरुओं की मूल पुस्तकों के मजमूनों को एक साथ बैठकर पढ़ते थे, जो बहुत पूर्व दिवंगत हो चुके थे, और उन मृत विद्वानों के जीवित शब्द वर्तमान की भ्रांतियों को समझने हेतु नया नजरिया देते थे। विश्वविद्यालय उन दिनों अकादमिक खोजबीन और भीतरी बेचैनी का एक समुदाय होता था।

आधुनिक विविध विद्यालय (**माडर्न मल्टिवर्सिटी**) में वह समुदाय हाशियों में बिखर गया है, कि अब वह किसी गद्दी पर एकत्र होता है, कि किसी प्रोफेसर के चैम्बर में, कि किसी बड़े आदमी के निजी आवास में। आधुनिक विश्वविद्यालय के संरचनात्मक प्रयोजन का परम्परागत खोजबीन के साथ कोई ताल्लुक नहीं रह गया है। गुटेनबर्ग के समय से, अनुशासित आलोचनात्मक जाँच-पड़ताल के लिए बहुत मशविरा, लगभग पूरी तरह से, "पीठ" से उठकर प्रकाशनों में खिसक गया था। आधुनिक विश्वविद्यालयों ने उन मुठभेड़ों के लिए जो स्वायत्त और विप्लवी दोनों है, यद्यपि अनियोजित और उद्विग्न है, उनके लिए सहज वातावरण उपलब्ध कराना खो दिया है और उसके बदले किसी ऐसी प्रक्रिया की व्यवस्था करना पसंद किया है कि जिसके द्वारा तथाकथित शोध और शिक्षण उत्पन्न हुआ है।

अमेरिकन विश्वविद्यालय, स्पुतनिक की उड़ान के बाद से, सोवियत स्नातकों के साथ तू-मैं-तू कर रहा है और, जर्मन लोग अपनी अकादमिक परम्परा को त्याग कर अमेरिकनों के बराबर आने के लिए कैम्पस" का निर्माण कर रहे हैं। वर्तमान दशक में ही वे उनके ग्रामर स्कूलों और हाईस्कूलों के खर्चे को एक करोड़ चालीस लाख मार्क से बढ़ाकर पांच करोड़ नब्बे लाख मार्क करना चाहते हैं, और उच्च शिक्षा के लिए तीन गुने से भी ज्यादा बढ़ाना चाहते हैं। और, फ्रेंच लोग 1980 तक स्कूलों के ऊपर अपने सकल राष्ट्रीय उत्पादन का दस प्रतिशत खर्च करना चाहते हैं। फोर्ड फाउंडेशन लैटिन-अमेरिकन देशों को मदद दे रहा है कि वे अपने "सम्मानित" स्नातकों को उत्तरी-अमेरिकी स्तर तक लाने में प्रति व्यक्ति खर्च को बढ़ा सकें। विद्यार्थीगण अपनी पढ़ाई को ऐसी लागत-पूँजी मानते हैं कि जिसके बदले उन्हें सर्वाधिक धन-लाभ मिलता है, और राष्ट्र उन्हें विकास में महत्वपूर्ण घटक मानने लगे हैं।

महज कालिज-की-डिग्री हासिल करने वाले विशाल समुदाय के लिए विश्वविद्यालय अभी भी सम्माननीय है, लेकिन 1968 से उसने उसमें यकीन रखने वालों के मन में से अपनी इज्जत खो दी है। विद्यार्थी युद्ध, प्रदूषण, और चिर-

स्थायी-पक्षपात के लिए तैयारी करने से इन्कार करते हैं। शिक्षक उन्हें शासन की वैधता और उसकी विदेश नीति को, तथा शिक्षा की और जीवन की अमेरिकन शैली को चुनौती देने में मदद करते हैं। कुछ ज्यादा ही लोग डिग्री को नकार फेंकने लगे हैं और प्रमाणित समाज के बाहर, किसी प्रतिकूल संस्कृति में जीने की तैयारी करने लगे हैं। वे मध्यकालीन सुधारवादी फ्रैटिसेली और एलुम्ब्राडोस के, हिप्पियों के, और अपने समय के ड्रापआउट के तरीकों को पसंद करने लगे हैं। अन्य लोग उन स्रोतों पर स्कूलों के एकाधिकार को पहचानने लगे हैं जो उन्हें एक प्रतिकूल-समाज (काउंटर-सोसाइटी) गढ़ने के लिए चाहिए। वे एक-दूसरे का सहारा चाहते हैं कि ईमानदारी से रह सकें—अकादमिक कर्मकाण्ड के आगे झुके रह कर भी। वे धर्मसत्ता के ठीक भीतर रहकर धर्मद्रोह का धधकता मैदान तैयार कर रहे हैं।

आम आबादी के बड़े हिस्से, यद्यपि, आधुनिक-रहस्यवादी और आधुनिक-प्रतिधर्मी को देखकर बिचकते हैं पर वे अमेरिका की उपभोक्ता अर्थव्यवस्था को, उनके प्रजातंत्रीय विशेषाधिकार को, और उसकी अपनी मनमूरत को धमकाती-आंख दिखाते ही हैं। लेकिन उन्हें हटाया-भगाया नहीं जा सकता, चाहे बहुत थोड़े-सों को बड़े धैर्य के साथ पुनः बदल दो या चालाकी के साथ अपनों में जोड़ लो जैसे कि, उन्हें उनके ही विधर्म को पढ़ाने के लिए नियुक्त कर दिया जाता है। इस तरह तरीका तलाशा गया ताकि या तो विद्रोही व्यक्तियों से छुटकारा सम्भव हो या फिर विश्वविद्यालय का महत्व ही घटा दिया जावे जो कि उनके विरोध को आधार प्रदान करता है।

छात्र और संकाय (फैकल्टी), जो विश्वविद्यालय की वैधता को चुनौती देते हैं और वैसा करने में बड़ा व्यक्तिगत जोखिम उठाते हैं, निश्चय ही महसूस नहीं करते हैं कि वे उपभोक्ता-मानक स्थापित कर रहे हैं या किसी उत्पादक प्रणाली की हिमायत कर रहे हैं। वे लोग कि जिन्होंने **"एशिया संबंधी स्कालर्स की समिति"** (**"कमीटी ऑफ कन्सर्न्ड एशियन स्कालर्स"**) और, **"लातिनी-अमेरिकन अध्ययन की उत्तरी-अमेरिकी कांग्रेस"** की स्थापना की, वे लाखों युवकों के दिमाग पर, विदेशों के विषय में छायी हुई उनकी अवधारणाओं को क्रांतिकारी तरीके से बदलने में, अत्यंत प्रभावशाली रहे हैं। कुछ ने अमेरिकन समाज की मार्क्सवादी व्याख्याओं को स्थापित करने की भी कोशिशें की, अथवा कम्यून्स को विकसित

करने के प्रयास किए। उनकी उपलब्धियाँ इस तर्क को नई शक्ति प्रदान करती हैं कि विश्वविद्यालय का अस्तित्व निरन्तर सामाजिक आलोचना की गारण्टी के लिए जरूरी है।

निःसंदेह, आज विश्वविद्यालय स्थितियों का इतना विलक्षण संयोग प्रस्तुत करता है कि जिससे उसके कुछ सदस्यों को समूचे समाज की आलोचना करने की इजाजत मिलती है। विश्वविद्यालय उन्हें "समय" देता है, विभिन्न स्थानों में आने-जाने की "गतिशीलता" (Mobility) देता है, समकक्षों (peers) तक एवं विविध सूचनाओं तक उनकी पहुँच (access) बनाता है, और उन्हें एक खास सुरक्षा प्रदान करता है—ये सब ऐसे विशेषाधिकार हैं जो आबादी के अन्य हिस्सों को उतनी समानता से उपलब्ध नहीं है। लेकिन विश्वविद्यालय इस आजादी को सिर्फ उन्हीं को प्रदान करता है जो उपभोक्ता समाज में और किसी-न-किसी तरह के अनिवार्य सार्वजनिक शिक्षण (आब्लीगेटरी पब्लिक स्कूलिंग) में गहरे दीक्षित हो चुके हैं।

आज, स्कूल-प्रणाली उन तिहरे कर्मों को सम्पन्न करती है जो समूचे इतिहास में शक्तिशाली गिरजों में संयुक्त थे। वह एक ही साथ समाज के मिथ का भण्डार, उस मिथ के अन्तरविरोधों का संस्थायीकरण, और उस कर्मकाण्ड का चक्र है जो मिथ और यथार्थ के दरम्यान अंतरों को छिपाता और पुनरुत्पादित करता है। आज, स्कूल-प्रणाली और खास-कर विश्वविद्यालय, मिथ की आलोचना के लिए और उसकी संस्थायी विकृतियों के विरुद्ध विद्रोह के लिए भरपूर अवसर प्रदान करते हैं। लेकिन मिथ और संस्था के दरम्यान बुनियादी अन्तरविरोधों की सहिष्णुता चाहने वाला कर्मकाण्ड अभी भी बड़े स्तर पर बिना-चुनौती छूट जाता है, क्योंकि न तो सैद्धांतिक आलोचना और न ही सामाजिक एक्शन किसी नये समाज को उत्पन्न कर सकते हैं। सिर्फ केन्द्रीय सामाजिक कर्मकाण्ड से मोहमुक्ति और पिंड छूटना, एवं उस कर्मकाण्ड का ही सुधार किसी क्रांतिकारी परिवर्तन को ला सकता है।

अमेरिकी विश्वविद्यालय, सब-कुछ लपेट लेने वाले संस्कारी-कर्मकाण्ड की चरम अवस्था पर जा पहुंचा है जो संसार के इतिहास में अपूर्व है। इतिहास में कभी भी कोई भी समाज किसी मिथ अथवा किसी कर्मकाण्ड के बिना

जीवित नहीं रह सका है, किन्तु हमारा समाज प्रथम है जिसे उसके मिथ के लिए इतने मलिन, सुदीर्घ, विनाशी और खर्चीले संस्कार की जरूरत पड़ी। समसामयिक विश्व-सभ्यता भी वह पहली सभ्यता ही है जिसे अपने बुनियादी संस्कारी कर्म-काण्ड को शिक्षा के नाम पर युक्तियुक्त (रेशनलाइज) ठहराना आवश्यक लगा। हम शिक्षा में सुधार की कोई शुरूआत तभी कर सकते हैं जब पहले हम यह समझ लें कि स्कूली-परिपाटी के द्वारा न तो वैयक्तिक शिक्षण और न ही सामाजिक बराबरी को लाया जा सकता है। हम किसी उपभोक्ता समाज के पार जा ही नहीं सकते कि जब तक हम यह न समझ लें कि अनिवार्य सार्वजनिक स्कूल(ऑब्लिगेटरी पब्लिक स्कूल)—चाहे उनमें कितना भी अच्छा-कुछ पढ़ाया जाता हो— वे अपरिहार्य रूप से वैसे ही समाज (उपभोक्ता समाज) का ही पुनरुत्पादन करते हैं।

मिथक-तोड़ने (डीमायथोलॉजाइजिंग) की जिस योजना का मैं प्रस्ताव कर रहा हूं वह सिर्फ विश्वविद्यालय तक सीमित नहीं रह सकती। विश्वविद्यालय को सुधारने का प्रयास, बिना उस तंत्र को समझे-बूझे कि विश्वविद्यालय जिसका अभिन्न अंग है, कुछ वैसी ही बात होगी कि जैसे शहर की बारहवीं मंजिल के ऊपर से साफ-सफाई की जाये। अनेकानेक कालिज-स्तरीय सुधार जो जारी हैं, वे वैसे ही हैं जैसे ऊँचे तल पर स्लम्स (झोपड़पट्टी) का निर्माण करना। वही पीढ़ी कि जो बगैर अनिवार्य स्कूल (विदाउट आब्लीगेटरी स्कूलिंग) के बड़ी होगी वही विश्वविद्यालय की पुनर्रचना करेगी।

संस्थागत मूल्यों का मिथ

स्कूल भी अनंत उपभोग के मिथ को बढ़ाता है। यह आधुनिक मिथ इस विश्वास में गूँथा हुआ है कि पद्धति स्वयमेव मूल्य-सा कुछ पैदा करती है, अतः उत्पादन अनिवार्यतः माँग पैदा करता है। स्कूल हमें यह पढ़ाता है कि शिक्षा ज्ञान उत्पन्न करती है। स्कूलों का अस्तित्व स्कूली-पढ़ाई (स्कूलिंग) की माँग उत्पन्न करता है। एक बार जब हमने यह सीख लिया कि स्कूल जरूरी है, फिर तो हमारी समूची गतिविधियां अन्य विशेषीकृत संस्थाओं (स्पेशलाइज्ड इन्स्टीट्यूशन्स) के प्रति ग्राहकी-सम्बन्धों का आकार ग्रहण करने लगती हैं। जब अपने आप स्वयं पढ़ा-गुणा व्यक्ति (आदमी या औरत) अप्रतिष्ठित कर दिया गया, तब तो सारी गैर-व्यावसायिक(नॉन-प्रोफेशनल) गतिविधियां संदेहास्पद हो गयीं। स्कूल में हमें पढ़ाया जाता है कि बहुमूल्य ज्ञान उपस्थिति के फलस्वरूप हुआ है;

कि ज्ञान का मूल्य तो निवेश (इनपुट) की मात्रा बढ़ाने के साथ-साथ बढ़ता ही जाता है, और कि अंततः यह मूल्य कक्षा–स्तरों (ग्रेड्स) और सर्टिफिकेटों के द्वारा नापा जाकर प्रमाणित किया जा सकता है।

वास्तव में तो, ज्ञानप्राप्ति ऐसी मानवीय गतिविधि है कि जिसके लिए दूसरों के द्वारा अटकलबाजी(मैनिपुलेट) करने की जरा भी जरूरत नहीं है। अधिकांश ज्ञानप्राप्ति शिक्षण के फलस्वरूप नहीं है। बल्कि वह किसी सार्थक वातावरण में बेरोकटोक हिस्सेदारी के नतीजन है। अधिकांश लोग "उस फिजा के साथ" रहकर बेहतरीन सीखते हैं, मगर उनके वैयक्तिक ज्ञानबोध-युक्त विकास से उनका ही परिचय कराने के लिए स्कूल वृहत् योजना और अटकलबाजी (प्लानिंग एण्ड मैनिपुलेशन) अपनाता है।

एक बार जब किसी पुरुष या महिला ने स्कूल की जरूरत को स्वीकार कर लिया हो तब तो वह अन्य संस्थाओं के चंगुल में आसानी से फँस जाता है। एक बार जब नवजवान लोगों ने अपनी कल्पनाओं को पाठ्यक्रमी शिक्षण से रूपाहत करना स्वीकार कर ही लिया, तब तो वे हर प्रकार की संस्थायी योजना के लिए अनुकूल (कन्डीशन्ड) हो गये। "शिक्षण" उनकी कल्पनाओं के क्षितिज को धुंधलाता है। वे बहकाये नहीं जा सकते, महज क्षणिक–बदले जा सकते हैं, क्योंकि उन्हें आशा के स्थान पर अपेक्षाओं का स्थानापन्न करना सिखाया जाता है। अब वे, भले या बुरे किसी भी खातिर, दूसरे लोगों के द्वारा जरा भी चौंकाये नहीं जा सकते क्योंकि उन्हें हर दूसरे आदमी से क्या अपेक्षा करना है यह सिखाया गया है जो उसी तरह से सिखाया–पढ़ाया गया है जैसे वे स्वयं। यह दूसरे व्यक्ति के बाबत् या किसी मशीन के बाबत् सही है।

"वैयक्तिकता" (सेल्फ) से "संस्था" में जिम्मेदारी का यह स्थानांतरण विशेषकर "अनिवार्य" माना जाकर स्वीकार लिया गया हो, तब तो सामाजिक अवनति की पूरी गारन्टी हो गयी। अतः विश्वविद्यालय के खिलाफ विद्रोही अक्सर उसके संकाय में "राह बना लेते हैं" बजाय कि ऐसा साहस दर्शाएँ ताकि उनके व्यक्तिगत ज्ञान–शिक्षण से दूसरे लोग अनुप्राणित हों और परिणामों के लिए जिम्मेदारी ग्रहण करें। यह किसी नई ईडीपस–कथा की संभावना को इंगित करता है—ईडीपस द टीचर, जो अपनी माँ के साथ "राह बनाता है", उसके

साथ "बच्चे" उत्पन्न करने के लिए। वह आदमी जो पढ़ाया जाने का अभ्यस्त हो गया है, वह अनिवार्य शिक्षण में ही अपनी सुरक्षा खोजता है। वह औरत जो अपने ज्ञान को किसी प्रक्रिया के फलस्वरूप अनुभव करती है, वह दूसरों में उसका पुनर्उत्पादन करना चाहती है।

मूल्यों के आकलन का मिथ

वे संस्थायी मूल्य जिन्हें स्कूल, लोगों में भरता है वे अनुमान्य होते हैं। स्कूल जवान लोगों को किसी ऐसे संसार में लाता है जहाँ सब–कुछ नापा जा सकता है, उनकी कल्पनाओं को भी, और–तो–और आदमी को स्वयं को ही।

लेकिन वैयक्तिक विकास नापा जा सकने वाला सत्व नहीं है। वह अनुशासित मतभेद में विकसित हुआ सत्व है, जिसे किसी स्केल पर नापा नहीं जा सकता, किसी पाठ्यक्रम से भी नहीं, और किसी अन्य की उपलब्धियों से उसकी तुलना भी नहीं की जा सकती। इस ज्ञानप्राप्ति के अंतर्गत केवल काल्पनिक प्रयास के द्वारा ही दूसरों से प्रतिस्पर्धा हो सकती है, और उनके कदमों पर चला जा सकता है, उनकी चाल–ढाल की नकलकारी करके नहीं। वह ज्ञानप्राप्ति जिसे मैं महत्व दे रहा हूं वह कहीं से भी नापी नहीं जा सकने वाली पुनर्रचना है।

स्कूल स्वांग करता है कि उसने ज्ञानप्राप्ति को विषय "वस्तुओं" में बांट दिया है, कि वह इन बने-बनाये सांचों के किसी पाठ्यक्रम को छात्र में निर्माण करता है, और कि वह उनके परिणामों को एक अंतर्राष्ट्रीय स्केल पर नापता है। लोग जो अपने स्वयं के व्यक्तिगत विकास को आंकने के लिये दूसरों के स्टेण्डर्ड के आगे समर्पित होते हैं शीघ्र ही उसी स्केल को अपने स्वयं के लिए प्रयुक्त कर लेते हैं। उन्हें अब अपने स्थान पर जाने की जरूरत नहीं, बल्कि अपने निर्धारित खांचों में स्वयं को रखना होता है, उस ताख में अपने को ठूंसा लेना होता है कि जिसे खोजना उन्हें सिखाया गया है, और इसी–इसी प्रक्रिया में, अपने सहपाठियों को भी उनके स्थानों में फंसाना होता है—तब तक कि जब तक हर कोई और सब कुछ फिट हो जाये।

लोग जो स्कूल के द्वारा ढाल दिये गये होते हैं वे अपने हाथों से असीम अनुभवों को खिसक जाने देते हैं। उनके लिए, वह सब–कुछ कि जो नापा नहीं जा

सकता वह निम्न-स्तरीय है, डरावना है। उनकी रचनात्मकता को लूटने की जरूरत नहीं; शिक्षण के अधीन होने से ही, वे अपनी बात को "करने" में अज्ञानी हो गये हैं—(अपना दिमाग "चलाना" भूल गये हैं)—"स्वयंभू" होना खो चुके हैं, और उसी को मूल्यवान मानने लगे हैं जो गढ़ा जा सकता है।

एक बार जब उनमें यह विचार स्कूलमयी (Schooled) हो जाता है कि मूल्यों को पैदा किया जा सकता है और नापा जा सकता है, तब लोग सभी प्रकार के क्रम-विन्यासों (rankings) को स्वीकारने लगते हैं। एक स्केल होती है राष्ट्रों के विकास नापने के लिए, तो दूसरी हो जाती है शिशुओं की बुद्धि को नापने वाली, और यहां तक कि **मारे गये लोगों की संख्या** (body count) के आधार पर शांति की ओर बढ़ती प्रगति की भी गणना की जा सकती है। स्कूलमयी संसार (Schooled world) में सुख संतोष की ओर जाने वाली राह उपभोक्ता-सूचकांक के द्वारा बिछायी जाती है।

मूल्यों के पैकेजिंग का मिथ

स्कूल पाठ्यक्रम को बेचता है—पाठ्यक्रम, जो कि सामानों का वैसा ही बंडल है जो उसी प्रक्रिया से बनाया जाता है और उसकी वही संरचना है जो अन्य माल असबाबों की होती है। अधिकांश स्कूलों के लिए पाठ्यक्रम-उत्पादन तथाकथित वैज्ञानिक शोध के साथ आरम्भ होता है, जिसके आधार पर वैशिक-इंजीनियर्स बजट-अनुमानों के लिए और वर्जनाओं के द्वारा निर्धारित की गयी सीमाओं में समूची-संयोजना के लिए भावी मांग का और औजारों का पूर्वानुमान देते हैं। वितरक-शिक्षक तैयार माल उपभोक्ता-छात्र को सौंपता है, जिसकी प्रतिक्रियाओं का ध्यानपूर्वक अध्ययन एवं चार्टिंग किया जाता है ताकि उस अगले मॉडल की तैयारी हेतु शोध-सामग्री (रिसर्च डेटा) उपलब्ध की जाये जिसमें, **"बिना ऐंड दिये मूल्यांकन प्रणाली"** रखी जा सकती है, या **"छात्र-केन्द्रित शिक्षण"** हो सकता है, या **"दो-तीन शिक्षकों द्वारा एक-साथ डीम शिक्षण** हो सकता है, या **दृश्य सामग्री से शिक्षण** हो सकता है।

पाठ्यक्रम-उत्पादन प्रक्रिया का परिणाम किसी भी अन्य आधुनिक माल की तरह लगता है। वह आयोजित अभिप्रायों का बंडल, या मूल्यों का पैकेज या व्यापारिक माल है जो उत्पादन की लागत को उचित ठहराने के लिए, पर्याप्त

बड़ी संख्या में बेचे जाने हेतु, "संतुलित-आकर्षण" बनाये रखता है। उपभोक्ता-छात्रों को पढ़ाया जाता है कि वे अपनी इच्छाओं को विक्रय मूल्यों के अनुरूप गढ़ें। इस तरह यदि वे उपभोक्ता-आधारित लोक के पूर्वानुमानों के अनुकूल न चलें (कि जिससे उन्हें वे श्रेणियां और प्रमाण-पत्र मिलते हैं जो उन्हें उस नौकरी-वर्ग में लायेंगे कि जिसकी अपेक्षा रखने की और उन्हें धकेला गया था) तो वे स्वयं को अपराधी महसूस करने को बाध्य किये जाते हैं।

शिक्षाकार लोग अपने अवलोकन के आधार पर ज्यादा महँगे पाठ्यक्रम को उचित ठहरा सकते हैं कि ज्ञानप्राप्ति की कठिनाईयां पाठ्यक्रम की कीमत के अनुपात में बढ़ती है। यह पार्किन्सन-नियम की एक प्रयुक्ति है कि काम, उसे करने के उपलब्ध स्रोतों के बढ़ने के साथ-साथ बढ़ता है। यह नियम स्कूल के हर स्तर पर सही उतरता है—उदाहरणार्थ, फ्रांसीसी स्कूलों में पढ़ने की कठिनाईयां तभी किसी बड़े मसले के रूप में उभरी कि जब उनका प्रति-व्यक्ति खर्च संयुक्त राज्य अमेरिका के 1950 के स्तर पर पहुंचा कि जब संयुक्त राज्य अमेरिका में पढ़ाई की कठिनाईयां उसका बड़ा मसला बनी थी।

वास्तव में, समझदार विद्यार्थी शिक्षण से अपने प्रतिरोध को तब अक्सर घना कर देते हैं जब ऐसा लगता है कि उन्हें सभी योग्यताओं वाले बच्चों के लिए पाठ्यक्रम उपलब्ध कराने हेतु बने बड़े विशाल माध्यमिक स्कूलिंग के द्वारा साधा (मेनिपुलेट किया) जा रहा है। यह प्रतिरोध किसी सार्वजनिक स्कूल की सत्तावादी स्टाइल के या कि किन्हीं सस्ते स्कूल की प्रलोभी स्टाइल के कारण नहीं बल्कि सभी स्कूलों पर लागू होने वाले उस बुनियादी रुख, याने उस विचार, कि एक व्यक्ति यह तय करे कि दूसरा व्यक्ति क्या पढ़े, के कारण है।

स्वयंमेय-निरंतर होती प्रगति का मिथ

यह विरोधाभास है कि शिक्षण में घटते हुए फायदों के बावजूद, बढ़ता हुआ प्रति-व्यक्ति प्रशिक्षण-खर्च छात्र के मूल्य को अपनी ही निगाहों में और बाजार में बढ़ाता है। किसी भी कीमत पर स्कूल, प्रतियोगी पाठ्यक्रमी खपत के स्तर तक, छात्र को, निरन्तर ऊँचे उठते स्तरों वाली प्रगति की ओर धकेलता जाता है। जैसे-जैसे विद्यार्थी मीनार की सीढ़ियां चढ़ता जाता है वैसे उसे स्कूल में बनाये रखने के लिए प्रेरित करने वाला खर्च आसमानी ऊँचाईयां छूता जाता है। उच्च स्तरों पर छद्म रूप में वे नये फुटबाल स्टेडियम, या चैपल, या प्रोग्राम हैं जिन्हें

इन्स्टिट्यूशनल एजुकेशन कहा जाता है। और कुछ तो नहीं, लेकिन स्कूल सीढ़ियाँ चढ़ते जाने का मूल्य अवश्य सिखाता है—जो काम करने के अमेरिकन ढंग का मूल्य है।

वियतनामी युद्ध आज के सोच में बिलकुल उपयुक्त है। उसकी सफलता विशाल कीमत पर सौंपी गयी सस्ती गोलियों के द्वारा मारे गये लोगों की संख्याओं की द्वारा नापी गई, और उस निर्मम गणित को बेहयाई के साथ "बाडी काउंट" (body count) कहा गया। जैसे कि धंधा तो धंधा है—धन का अनंत संग्रह—वैसे ही युद्ध का अर्थ कत्ल है—मृत देहों का अनंत सिलसिला। उसी तरह ही, शिक्षा का अर्थ हो गया है स्कूलिंग-(संस्थागी शिक्षण)-और उस सनातन प्रक्रिया को छात्र-घंटों (pupil-hours) में गिना जाता है। ये विभिन्न प्रक्रियाएँ अन-पलट और स्वयं को उचित ठहराने वाली हैं। आर्थिक प्रतिमानों से देश धनी-से-धनी होता जाता है! कत्ल-गिनती के प्रतिमानों से देश लगातार अपना युद्ध जीतता जाता है! और, स्कूल-प्रतिमानों से आबादी लगातार शिक्षित होती लगती है!

स्कूली कार्यक्रम शिक्षण के उत्तरोत्तर अंतर्ग्रहण के लिए लालायित रहते हैं लेकिन यदि लालसा गंभीर तन्मयता की ओर आकृष्ट करे तो भी वह, हमारी तृप्ति की हद तक, कुछ ज्ञान लेने का आनंद नहीं देती। हर विषय इस निर्देश-निर्देश के साथ पैकेज बनकर आता है कि एक-के-बाद-एक "प्रसाद" को ग्रहण करते चले जाना है, और यह भी कि सदैव ही पिछले वर्ष का पैकेज इस वर्ष के उपभोक्ता के लिए बेकार हो जाता है। पाठ्यपुस्तकों-लिए ... इस मांग का निर्माण करती है। शिक्षा-सुधारक हर नई पीढ़ी से वादा करते हैं कि वे सबसे ताजा और सर्वश्रेष्ठ ज्ञान उपलब्ध करवायेंगे, और जनता इस तरह से स्कूलित कर दी जाती है ताकि वे जो प्रस्तुत करें वह उसी की माँग बढ़ाती जाये। उन दोनों ही को—ड्रापआउट (पढ़ाई अधूरी छोड़ बैठे छात्रों) को कि देखो उन्होंने कितना महत्वपूर्ण छोड़ दिया, और स्नातकों को कि वे नये छात्रों से (जिन्हें नया ज्ञान मिलेगा उनसे) डरें—उन दोनों ही को खूब मालूम है कि बढ़ते हुए छलावों के कर्मकाण्ड में वे कहाँ खड़े हैं और किसी ऐसे समाज का समर्थन जारी रखे हुए हैं जो फैलती हताशा की खाई को सुमधुरता से "बढ़ती हुई आकांक्षाओं" का नाम दे रहा है।

और राजनीतिक क्रांति के द्वारा सुधार न की जायें। वास्तव में तो जब स्कूल उद्योग माना तब ही जायेगा किसी क्रांतिकारी रणनीति को यथार्थ रूप में प्लान किया जा सकता है। उपभोग-वस्तुओं के लिए मांगों को पैदा करने की लागत मार्क्स के लिए शायद ही महत्वपूर्ण थी। लेकिन आज अधिकांश मानवी श्रम उन माँगों को पैदा करने में लगा है जो उस उद्योग से ही पूरी की जा सकती हैं कि जो पूँजी का अत्यंत भारी उपयोग करता हो। स्कूल में यही सर्वाधिक किया जाता है।

पारंपरिक स्कीम के अंतर्गत, "अलगाव" (एलियनेशन) "काम" के तब्दील होकर "पगार देने वाली मजदूरी" बन जाने का सीधा परिणाम था जिसने रचने और स्वयं पुनः रचे जाने के अवसर से मनुष्य को वंचित कर दिया था। अब युवजन स्कूलों के द्वारा **पहले-से-ही-वियोजित (Pre-alienated)** हो जाते हैं क्योंकि स्कूल उन्हें समाज से तब पृथक कर देते हैं जब स्कूल दम भरते हैं कि वे अपने स्वयं के उस ज्ञान के उत्पादक और उपभोक्ता हैं जो किसी ऐसी उपभोग-वस्तु (कमोडिटी) के रूप में मानी गयी है जिसे स्कूल के बाजार में रखा गया है। स्कूल "अलगाव" (एलियनेशन) को "जीवन की तैयारी" बनाता है और इस तरह यथार्थ और रचनात्मक कर्म से शिक्षा को दूर करता है। "पढ़ाया जाना जरूरी है", यह बात पढ़ा-पढ़ा कर स्कूल लोगों को जीवन के लगावहीन संस्थायीकरण (Alienating institutionalisation) के लिए तैयार करता है। एक बार जब यह पाठ दिमाग में घुस गया तब लोग स्वतंत्र विकास के अपने उत्साह को भूल जाते हैं; वे अपने लगावों (Relatedness) को आकर्षक नहीं महसूसते, और खुले जीवन द्वारा बिखेरी गयी उन अनोखी विस्मयताओं से अपने को विमुख कर लेते हैं कि जो संस्थायी परिभाषा के द्वारा पूर्व-निर्धारित नहीं हैं। और हाँ, स्कूल सीधे अथवा परोक्ष रूप में आबादी के बड़े हिस्से को नियुक्त करता है। स्कूल लोगों को या तो जीवन भर लगाये रखता है या फिर यह निश्चित कर लेता है कि वे किसी संस्था में फिट हो जायेंगे।

नया विश्व चर्च ज्ञान-की-फैक्ट्री है जो किसी व्यक्ति के जीवन के बढ़ते-जा रहे अध्ययन काल के दौरान अफीम पिलाने की बोतल और वर्क बेंच दोनों ही है। अतः किसी भी आंदोलन की जड़ में स्कूल-भंग होना ही चाहिये।

स्कूलभंग की क्रांतिकारी संभावना

निश्चय ही, किसी भी हालत में, स्कूल, यथार्थ के रूप के बाबत् मनुष्य के

स्वप्न (विजन) को आकार देने का मुख्य प्रयोजन रखने वाली एक अकेली संस्था नहीं है। पारिवारिक-जीवन के, अनिवार्य सैनिक भर्ती के, स्वास्थ्य सेवाओं के, तथाकथित व्यावसायिकता (Professionalism) के, या मीडिया के प्रच्छन्न पाठ्यक्रम मनुष्य के संसार को बनाने की, याने मनुष्य के स्वप्न (विजन), भाषा और मांगों को बनाने की संस्थायी-अटकलबाजी (इन्स्टीट्यूशनल मेनीपुलेशन) में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। लेकिन स्कूल ही सर्वाधिक विधिपूर्वक मनुष्य को गुलाम बनाता है, क्योंकि स्कूल समालोचनात्मक आकलन (क्रिटिकल जजमेंट) को रूप देने के प्रमुख कर्म (फंक्शन) करने वाली संस्था का "सम्मान" अर्जित किया हुआ है, और यह विरोधाभास है कि वह, यह गुलामी अपने बावत्, दूसरे के बावत् और प्रकृति के बावत् ज्ञानप्राप्ति को किसी पूर्व-निर्धारित (Prepackaged) प्रक्रिया पर आश्रित बनाकर करता है। स्कूल हमें इतनी घनिष्ठता से लपेटे हुआ है कि हममें से कोई भी यह अपेक्षा नहीं करता कि यह उससे (स्कूल से) किसी अन्य जरिये से भी मुक्ति पा सकता है।

अनेक तथाकथित (सेल्फ-स्टाइल्ड) क्रांतिकारी-लोग स्कूल के शिकार हैं। वे तो "मुक्ति (लिबरेशन) को ही संस्थायी प्रक्रिया के उत्पादन के रूप में देखते हैं। स्कूल से मुक्ति ही इस तरह की भ्रांतियों को निरस्त कर सकती है। यह खोज—कि अधिकांश ज्ञानप्राप्ति के लिए किसी भी शिक्षण की जरूरत नहीं है—वह खोज न तो अटकल (मेनिपुलेशन) से हो सकती है और न आयोजित हो सकती है। हममें से प्रत्येक अपने-अपने डीस्कूलिंग (स्कूल-भंग) के लिए उत्तर-दायी है, और केवल हममें ही वैसा करने का सामर्थ्य है। कोई भी कि जो अपने को स्कूल से मुक्त करने में असफल होता है वह अक्षम्य है, गुनाहगार है। लोग अपने को राजशाही (क्राउन) से तभी आजाद कर पाये थे कि जब उनमें से कुछ ने अपने को स्थापित चर्च से स्वतंत्र कर लिया था। अनिवार्य—स्कूल से मुक्त हुए बिना वे अपने को लगातार बढ़ते हुए उपभोग से आजाद नहीं कर सकते।

हम स्कूली-पढ़ाई (स्कूलिंग) में दोनों ही तरफ से-उत्पादन की ओर से और उपभोग की ओर से, दोनों ही ओर से-गूंथे हुए हैं। हम में यह अंध-विश्वास भर गया है कि अच्छी ज्ञानप्राप्ति हमारे अंदर निर्मित की जा सकती है, और, की जाना चाहिये—और, कि हम उसे दूसरों में निर्मित कर सकते हैं। स्कूल की अवधारणा से छूट पाने का हमारा प्रयास उस प्रतिरोध का उद्घाटन करेगा

जो हम तब अपने में पाते हैं जब हम "सीमा रहित उपभोग" और "दूसरों को उनके अपने भले के लिए हेरफेर करने (अंदाजी-अनुमानी अटकलों से सिखाने-पढ़ाने) के व्याप्त भ्रम" को स्वागते हैं। स्कूली प्रक्रिया में दूसरों का शोषण करने के काम से कोई भी छूटा हुआ नहीं है।

स्कूल सबसे बड़ा और सर्वाधिक गुमनाम नियोक्ता (Employer) है। वास्तव में, स्कूल एक नये किस्म के उद्योग का सर्वश्रेष्ठ दृष्टांत है जो संघ (Guild), फैक्ट्री, और कारपोरेशन के भी आगे हो गया है। बहुराष्ट्रीय निगम (मल्टी नेशनल कारपोरेशन) जिन्होंने कि अर्थ-व्यवस्था पर प्रभुत्व जमा रखा है, वे अब उच्चराष्ट्रीय नियोजित सेवा एजेन्सियों (सुपर नेशनली प्लान्ड सर्विस एजेंसीज) से सहयोग ले रही हैं; किसी भी दिन ये एजेंसियाँ बहुराष्ट्रीय निगमों को हटाकर पूरी तरह स्वयं स्थापित हो सकती हैं। ये उद्यम अपनी सेवाओं को ऐसे तरीके से प्रस्तुत करती हैं कि सभी जन उनका उपभोग करने को बाध्य होते हैं। ये अन्तर्राष्ट्रीय मानक ग्रहण किये रहती हैं, अपनी सेवाओं के मूल्य को लगभग एक-सी आवृत्ति में समय-समय पर और हर जगह पुनर्परि-भाषित करती रहती हैं।

नई कारों और सुपरहाईवेज पर निर्भर होकर "परिवहन" आराम, प्रतिष्ठा, गति और कलपुर्जों के लिए उसी पैकबंद जरूरत की सेवापूर्ति करता है चाहे उसके अवयव राज्य के द्वारा उत्पादित किये जाते हों या नहीं किये जाते हों। "स्वास्थ्य सेवा" का उपकरण एक खास किस्म के स्वास्थ्य को परिभाषित करता है, चाहे सेवा-व्यय राज्य के द्वारा दिया जाये अथवा व्यक्ति के द्वारा। प्रमाण-पत्र पाने के लिए कक्षा-दर-कक्षा पास करना योग्यताधारी जनशक्ति (Qualified manpower) के उसी अंतर्राष्ट्रीय पिरामिड पर कोई स्थान देने के लिए छात्र को फिट करता ही है—फिर चाहे स्कूल को कोई भी व्यवस्था निर्देशित करती हो उससे कुछ फर्क नहीं पड़ता।

इन सभी मामलों में रोजगार एक प्रच्छन्न लाभ है—एक निजी कार के ड्राइवर, अस्पताल की शरण जाने वाले मरीज, या स्कूल रूम के छात्र को अब "मुलाजिमों" (employees) के किसी नये वर्ग के एक हिस्से के रूप में देखना होगा। कोई मुक्तिदाता—आंदोलन जो स्कूल में शुरू होता है, फिर भी शिक्षकों और छात्रों (जो कि साथ-ही-साथ "शोषकों" और "शोषितों" के रूप में भी हैं) की सजगता में ही समाया हुआ है, वह भविष्य की क्रांतिकारी रणनीति का पूर्वाभास दे सकता है, क्योंकि स्कूल भंग करने का कोई क्रांतिकारी कार्यक्रम

किसी ऐसे आंदोलन की नयी स्टाइल डालने में युवजन को प्रशिक्षित कर सकता है जो उस सामाजिक प्रणाली को चुनौती देने के लिए जरूरी है कि अनिवार्य "स्वास्थ्य", "संपत्ति" और "सुरक्षा" (obligatory 'Health', Wealth" and "Security") जिसके प्रमुख लक्षण हों।

स्कूल के खिलाफ "विद्रोह" के खतरे अकल्पित है—(अनुमाने नहीं जा सकते)—लेकिन वे अन्य किसी भी संस्था में आरम्भ होने वाले आंदोलन के खतरों से ज्यादा भयानक नहीं हैं। स्कूल की जकड़न से मुक्ति रक्तहीन हो सकती है। अदालतों और रोजगार एजेन्सियों में व्यक्तिगत आंदोलनकारी के खिलाफ निगरानी आफिसर (Truant Officer) और उसके सहयोगी के हथियार अत्यंत निर्मम रवैया अपना सकते हैं, विशेषत: तब कि जब आंदोलनकर्ता गरीब हों, लेकिन वे किसी जन–आंदोलन के बहाव के आगे अक्षम हो सकते हैं।

स्कूल सामाजिक समस्या बन गया है; वह चारों ओर से मार खा रहा है; और, नागरिक तथा उनकी सरकारें सारी दुनिया में स्कूलों पर ऐसे प्रयोग कर रहे हैं जिनकी कोई परम्परा नहीं है। वे अपना चेहरा बचाने और भरोसा बनाये रखने के लिए अपूर्व आंकड़ेबाज युक्तियों (Statistical devices) का सहारा लेते हैं। कुछ शिक्षाकारों का मूड ठीक उसी तरह का है कि जैसा वेटिकन कौंसिल के पश्चात् कैथोलिक बिशपों का बना था। तथाकथित "मुक्त स्कूलों" ("Free Schools") के पाठ्यक्रम भी फोक और रॉक पूजा–समारोहों (Folk & Rock masses) की सार्वजनिक प्रार्थनाविधियों (Liturgies) के समान ही हैं। हाईस्कूल–छात्रों की ये माँगें—कि अपने शिक्षकों को चुनने में उनकी बात भी सुनी जानी चाहिये–ये माँगें—ठीक उतनी ही तीक्ष्ण हैं जैसी कि तब थी कि जब गिरजा–क्षेत्र–के–वासियों (Parishioners) ने अपना पादरी चुनने की माँग रखी थी। लेकिन समाज के लिए यह बहुत भारी दांव होगा यदि किसी उल्लेखनीय छोटी–सी संख्या में ही कुछ लोग स्कूली–प्रणाली पर से अपना विश्वास खो दें। यह न सिर्फ उस अर्थ–व्यवस्था को खतरे में डाल देगा जो उपभोग–वस्तुओं और उनकी माँगों के सह–उत्पादन पर आधारित है, बल्कि उस राजनीतिक व्यवस्था को भी खतरे में डालेगा जो राष्ट्–राज्य पर आधारित है कि जिसमें स्कूलों के द्वारा छात्र उत्पन्न होते हैं।

सारे विकल्प खुले हैं। या तो हम इस मत पर विश्वास जारी रखें कि संस्थायी ज्ञानप्राप्ति (Institutional Learning) एक ऐसी चीज है कि जिस

लेकिन वह वृद्धि कि जो अनंत उपभोग के रूप में परिकल्पित की गयी हो—वह निरन्तर प्रगति—वह कभी भी प्रौढ़ता हासिल नहीं कर सकती। अनंत संख्यात्मक वृद्धि सजीव विकास (आर्गेनिक डेवलपमेंट) की संभावना को कुण्ठित कर देती है।

कर्मकाण्डी खेल और नया विश्वधर्म

विकसित देशों में विद्यालयी–पढ़ाई की उम्र मनुष्य की दीर्घायु–संभावना (लाइफ एक्सपेक्टेंसी) की वृद्धि से भी बड़ी होने लगी है। किसी दशक में दोनों किसी ऐसे बिन्दु पर मिलेंगे कि वे "जेसिका मिटफोर्ड" और "सीमित उम्र तक शिक्षा" ('Terminal education') के पक्षधरों के लिए समस्या उत्पन्न करेंगे। पुरी मध्ययुगों के उत्तरार्द्ध की याद आती है कि जब चर्च–सेवाओं को जीवन–पर्यन्त के भी पार किया जाने लगा था, और चर्च-सेवकों के अनंत-शांति-में-प्रवेश के पूर्व आत्माओं की शुद्धि के लिए, पोप के निर्देशन में, "पापमोचन" होता था। सीधे गणित से इसका अर्थ हुआ कि पहले भरपूर भोग विलास कर लो फिर शुद्धि कर लो। "अनंत उपभोग का मिथ" अब चिरन्तन जीवन के विश्वास का स्थान ले लेता है।

अर्नाल्ड टायनबी ने इंगित किया है कि किसी महान् संस्कृति का पतन अमूमन किसी ऐसे नये विश्व-चर्च के उदय के साथ होता है जो देशी सर्वहारा में तो आशा का विस्तार करता है लेकिन वह किसी नये फौजी वर्ग की ही आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। हमारी पतनशील संस्कृति के लिए स्कूल वैसा ही परम उपयुक्त विश्व-चर्च माना जा सकता है। कोई भी संस्था अपने सहभागियों से, आज की दुनिया में, सामाजिक सिद्धांतों और सामाजिक यथार्थ के दरम्यान गहरी खाई को छिपा नहीं सकती। स्कूल की संस्था धर्मनिरपेक्ष, वैज्ञानिक और हिंसा–विरोधी दिखती है, याने आधुनिक मुद्रा के संगत। उसकी शास्त्रीय, समालोचक सतह उसे धर्म–विरोधी रूप तो नहीं मगर अनेकेश्वरवादी आकार प्रदान करती है। उसका पाठ्यक्रम दोनों ही काम करता है—विज्ञान को परिभाषित करना और तथाकथित वैज्ञानिक रिसर्च से स्वयं परिभाषित होना। कोई भी, स्कूल को, यद्यपि, पूरा नहीं करता। वह किसी के लिए भी द्वार बन्द करने के पहले एक मौका और देता है—"क्षतिपूरक, प्रौढ़ और निरन्तर शिक्षा" ["Remedial, Adult And Continuing education"] के द्वारा।

स्कूल सामाजिक मिथ के प्रभावशाली निर्माता और पोषक के रूप में उपयोगी है क्योंकि उसकी संरचना कक्षा-दर-कक्षा-ऊपर चढ़ते जाने के कर्मकाण्डी खेल से बनी है। क्या और कैसे कुछ पढ़ाया जाता है, इसको देखने के बजाय, इस जुआरी-कर्मकाण्ड में प्रवेश लेना बहुत ज्यादा महत्वपूर्ण है। वह तो खेल खुद ही है जो स्कूलित हो जाता है, कि जो खून में घुल जाता है और एक आदत बन जाता है। समूचा समाज "सेवाओं के अनन्त उपभोग के मिथ" में दीक्षित कर दिया जाता है। किसी के साथ वही होता है कि अनंत कर्मकाण्ड में नाममात्र हिस्सेदारी हर जगह अनिवार्य बना दी गयी है। स्कूल कर्मकाण्डी प्रतिद्वन्दिता को किसी ऐसे अंतर्राष्ट्रीय खेल की ओर मोड़ देता है जो प्रतिद्वन्दियों को बाध्य करता है कि वे संसार की खराबियों के लिए उन पर दोषारोपण करें जो खेल सकते नहीं या खेलना चाहते नहीं। स्कूल किसी ऐसे संस्कार का कर्मकाण्ड है जो नवदीक्षित को उत्तरोत्तर उपभोग की पवित्र दौड़ की ओर धकेलता है। स्कूल तुष्टिकरण का ऐसा कर्मकाण्ड है जिसके अकादमिक पादरी निष्ठावानों के, और विशेषाधिकार एवं सत्ता के देवताओं के बीच मध्यस्थता करते हैं। स्कूल ऐसा कर्मकाण्ड है जो अपने ड्रापआउट लोगों को अर्धविकास (underdevelopment) के बलि-के-बकरों की तरह कलंकित करके उनकी बलि चढ़ाता है।

वे भी जो बड़ी कोशिश के बाद चन्द वर्षों के लिए ही स्कूल जा पाते हैं—(लातिनी अमेरिका, एशिया और अफ्रीका में जिनका अधिकांश है)—वे भी स्कूल के अपने अर्ध-उपभोग के कारण दोषी महसूस करना सीख जाते हैं। मैक्सिको में छठी कक्षा तक स्कूली शिक्षा कानूनी तौर पर अनिवार्य है। लेकिन निम्नतम-निम्नवर्गी आर्थिक अवस्था के बच्चों को पहला दर्जा पार करने के लिए साठ-सत्तर प्रतिशत अवसर ही है, और यदि वे पार कर भी जाते हैं तो उनके लिए अनिवार्य पढ़ाई के छठे दर्जे को पार करने के लिए सिर्फ चार प्रतिशत अवसर ही हैं। यदि वे मध्यवर्ती निम्नवर्गी हैं तो उनमें अवसर बढ़कर बारह प्रतिशत हो सकते हैं। (याद रहे कि पच्चीस लेटिन-अमेरिकी गणतंत्रों में जहाँ सार्वजनिक शिक्षा दी जा रही है उनमें मैक्सिको सर्वाधिक सफल माना जाता है !)

हर कहीं, सब बच्चे जानते हैं कि उन्हें एक अवसर दिया गया, यद्यपि असमान ही सही—इस अनिवार्य शिक्षा की लॉटरी में—और, इस तरह अंतर्राष्ट्रीय स्टेण्डर्ड की अनुमानित बराबरी, अब उनकी मूल गरीबी को, ड्रापआउट

लोगों के द्वारा स्वयं-स्वीकृत पिछड़ेपन के साथ संयुक्त कर देती है। अपेक्षाएँ उभारने के लिए उन्हें स्कूलीकृत किया गया, और, अब वे शिक्षार्थी-आय से बाहर धकेल दिये जाने को स्वीकार करके अपनी बढ़ती हताशा को सहला सकते हैं (रेशनलाइज कर सकते हैं)। वे स्वर्ग के सुख से बहिष्कृत कर दिये गये क्योंकि, एक बार पहली कक्षा में दाखिल होकर दीक्षित (बैप्टाइज्ड) होने के बाद वे फिर कभी चर्च में नहीं गये। आदि पाप (Original Sin) में उनकी उत्पत्ति हुई, पहले दर्जे में बैप्टाइज किये गये, किन्तु वे अपनी खुद की गलतियों की वजह से जेहेन्ना ("स्वर्ग" का हिब्रू नाम) में जाते हैं। जैसे कि मेक्स वेबर इस विश्वास (बिलीफ) का सामाजिक प्रभाव खोजते हैं कि मोक्ष उन्हें मिलता है जिन्होंने सम्पत्ति इकट्ठी कर ली है, वैसे ही हम देखते हैं कि श्री-प्राप्ति उन्हीं के लिए आरक्षित है जो स्कूल में अपने वर्षों को जोड़ते हैं।

भावी साम्राज्य : अपेक्षाओं का सार्वभौमिकरण

स्कूल अपने दावों में व्यक्त उपभोक्ता की अपेक्षाओं को अपने कर्मकाण्ड में व्यक्त उत्पादक के विश्वासों (बिलीफ) के साथ संयुक्त करता है। यह विश्वव्यापी "कार्गो पन्थ" (Cargo Cult) की कर्मकाण्डी अभिव्यक्ति है—उन पंथों (Cults) की यादगार (जो पांचवे दशक में मेलानेसिया में फैल गये थे), जिन्होंने पंथियों (Cultists) में यह धारणा भरी थी कि यदि वे अपने नंगे धड़ों पर काली टाई पहनें, तो जीसस प्रत्येक विश्वासी के लिए एक आइसबॉक्स, एक पतलून और एक सिलाई मशीन अपने स्टीमर में रखकर लाएगा।

स्कूल—"**एक मास्टर पर क्लेशप्रद निर्भरता द्वारा विकास**" को उस "**निरर्थक सर्वसामर्थ्यवान भावना द्वारा विकास**" के साथ मूँथ देता है जो छात्र में इतनी अजीब है कि वह बाहर आकर सारे देशों को पाठ पढ़ाने लगता है कि वे अपनी-अपनी सुरक्षा करें। यह कर्मकाण्ड मेहनतकशों की कठोर परिश्रमी आदतों के लिए अनुकूलित किया गया, और इसका अभिप्राय अनन्त उपभोग के उस सांसारिक स्वर्ग के मिथ का उत्सव मनाना है, जो कि दीन-दुखियों और वंचितों की एक अकेली उम्मीद है।

प्रतिलोमरूप इहलौकिक अपेक्षाओं की महामारियाँ समूचे इतिहास में पटी है, विशेषकर सारी संस्कृतियों के औपनिवेशिक और आंचलिक समूहों में। रोमन

साम्राज्य में यहूदियों के अपने "इसीन" (Essenes) और यहूदी मसीहा थे, रिफार्मेशन में कृषक मजदूरों के अपने थामस मुन्जेर थे, पैराग्वे से लगाकर डाकोटा तक के वंचित इंडियनों के अपने संक्रामक-नर्तक थे। ये पंथ हमेशा किसी मसीहा के नेतृत्व में चलते थे, और कुछ चुनिन्दा जन तक ही अपने वचनों को सीमित रखते थे। दूसरी ओर, साम्राज्य की स्कूल-प्रोत्साहित अपेक्षा पैगम्बरी होने की बजाय अवैयक्तिक है, क्षेत्रीय होने की बजाय सार्वभौमिक है। मनुष्य उसके अपने ही मसीहा का इंजीनियर बन गया है और अपने साम्राज्य पर उत्तरोत्तर-बढ़ती हुई वांछिकी अर्पित करने वालों को विज्ञान के असीम पुरस्कार प्रदान करने का वचन देता है।

एक नया एलिएनेशन

स्कूल एक नया विश्व धर्म ही नहीं है। यह संसार का तेजी-से बढ़ता श्रमिक बाजार भी है। उपभोक्ताओं का आविष्कार करना अर्थव्यवस्था का प्रमुख विकास क्षेत्र बन गया है। धनी देशों में जैसे-जैसे उत्पादन-व्यय (लागत-खर्च) घटता जाता है, वैसे-वैसे व्यवस्थित उपभोग के लिए आदमी तैयार करने के विशाल उद्यम में पूँजी और श्रम दोनों का बहुत तेज बढ़ता हुआ जमाव (कान्सेन्ट्रेशन) होता है। पिछले दशक में स्कूल प्रणाली से प्रत्यक्षतः संबंधित पूँजी-निवेश (कैपिटल इन्वेस्टमेंट) प्रतिरक्षा में होने वाले पूँजी-निवेश से भी ज्यादा तेजी से बढ़ा है। निरस्त्रीकरण निश्चय ही ऐसी प्रक्रिया को तेज करेगा जिससे शैक्षिक-उद्योग (लर्निंग इन्डस्ट्री) राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के केन्द्र की ओर बढ़ेगा। स्कूल तब तक वैध फिजूलखर्ची के अवसर देता जाता है जब तक कि उसकी विध्वंसकता बिना-पहचानी बनी रहे और राहत-प्रदायकों की लागत बढ़ती रहे।

पूरे-समय (फुल-टाईम) अध्यापन में लगे लोग तथा पूरे समय स्कूलों में हाजिरी देने वाले लोगों का जोड़ लगाया जाये तो हमें पता चलेगा कि यह तथाकथित महासंघ (सुपरस्ट्रक्चर) समाज का बड़ा रोजगार-मालिक (मेजर एम्प्लायर) है। संयुक्त राज्य अमेरिका में स्कूलों में छह करोड़ बीस लाख लोग लगे हैं और शेष काम में आठ करोड़ हैं। यह बात अक्सर नव-मार्क्सवादी विश्लेषकों द्वारा भुला दी जाती है जो कहते हैं कि स्कूल भंग करने (डीस्कूलिंग) की प्रक्रिया को तब तक मुलतवी अथवा थामे रखना चाहिये कि जब तक अन्य गड़बड़ियाँ-कि जो सामान्यतः मौलिक गड़बड़ियाँ गिनी जाती हैं वे-किसी आर्थिक

ऐसी जीवनशैली उत्पन्न करें जो आत्मस्फूर्त और आत्मनिर्भर बना सके पर साथ-ही-साथ एक-दूसरे से संबद्ध भी रखे बजाय ऐसी जीवन-शैली को बनाये रखने के जो हमें सिर्फ बनाने और मिटाने, पैदा करने और उपभोग करने की ही इजाजत देती है—जो ऐसी जीवन-शैली है कि जो हमें पर्यावरण को सोखते जाने और उसमें प्रदूषण भरने की ओर खींचे ले जा रही है। भविष्य इसी बात पर निर्भर है कि हम उस तरह की संस्थाओं का चुनाव करें जो कर्म के जीवन (Life of Action) को समर्थन दें बजाय की नई विचारधाराओं और टेक्नालोजियों को विकसित करने के। हमें कसौटियों के किसी ऐसे सेट की जरूरत है जिनसे हम उन संस्थाओं को उचित ठहरा सकें जो व्यक्ति में किन्हीं भी बातों को लत डालने के बजाय वैयक्तिक विकास को महत्व दें, और साथ-ही-साथ हमारे टेक्नालोजिकल संसाधनों को विकास की ऐसी ही संस्थाओं में लगाने के इरादों का समर्थन करें।

क्रांतिकारी रूप से विपरीत (radically opposed) दो संस्थायी नमूनों के दरम्यान चुनाव करना है, और वे दोनों ही वर्तमान की कुछेक संस्थाओं में उदाहरणस्वरूप मौजूद हैं, यद्यपि इनमें से एक नमूने की संस्था समसामयिक काल को इस तरह से विशिष्टता प्रदान करती है जैसे वह उसे सम्पूर्णतः ही परिभाषित कर दे रही हो। इस प्रबल नमूने को मैं जोड़तोड़बाज संस्था (manipulative institution) कहूंगा। दूसरा नमूना भी मौजूद है यद्यपि संदिग्ध रूप में। इस नमूने के अन्तर्गत जो संस्थाएं आती हैं वे विनम्र हैं और नोटिस में नहीं आतीं, लेकिन फिर भी मैं उन्हें बेहतरीन भविष्य के प्रतिमानों के रूप में देखना चाहता हूँ। मैं उन्हें "दोस्ताना" पुकारूंगा और संस्थायी तस्वीर के बाँये हिस्से में रखने का सुझाव दूंगा, यह दर्शाने के लिए कि अतिरेकों के बीच स्थित ऐसी संस्थाएँ मौजूद हैं, और यह दृष्टांत दिखाने के लिए भी कि ऐतिहासिक संस्थाएँ सुविधा-सहूलियत प्रदान करने की गतिविधि से हटकर उत्पादन को संगठित करने के काम में तब्दील होते-होते कैसे रंग बदल सकती हैं।

अमूमन ऐसी तस्वीर—बाँये से दाँये घूमती हुई—हमारी संस्थाओं और उनकी शैलियों के लक्षण दर्शाने के उपयोग में ली जाने के बजाय मनुष्यों और उनकी विचारधाराओं के लक्षण बताने के उपयोग में लायी जाती रही है। मनुष्यों का यह वर्गीकरण—व्यक्तिगत रूपों में या समूहों में—भले ज्यादा पैदा करता है प्रकाश उतना नहीं फैलाता। बिलकुल निराले फैशन से किसी साधारण प्रथा को उपयोग में लाने पर उसके खिलाफ भारी भरकम आपत्तियाँ पेश की जा सकती

है, लेकिन ऐसा करके मैं बहस के मुद्दों को किसी बौद्ध धरातल से सर्वर भूमि पर खिसकाने की उम्मीद बाँधता हूँ। जाहिर हो जायेगा कि बाँयी ओर के लोगों की विशिष्ट पहचान अटकलबाज संस्थाओं (जिन्हें मैं तस्वीर की बाँयी ओर अवस्थित करता हूं) के प्रति सिर्फ अपने विरोध के कारण ही नहीं है।

अत्यन्त प्रभावशाली आधुनिक संस्थाएं, तस्वीर की दाँयी ओर ही ठसाठस हैं। कानून-पालन (Law enforcement) भी उधर खिसक गया है जैसे कि शेरीफ (Sheriff) के हाथों से छूटकर एफ.बी.आई. या पेंटागॉन की झोली में जा गिरा हो। आधुनिक युद्धकौशल इतना उच्चस्तरीय व्यावसायिक उद्यम बन गया है कि जिसका धन्धा जान लेना है। वह उस चरम बिन्दु पर जा पहुंचा है कि जिसकी दक्षता मौत की संख्या (body counts) मापने से आँकी जाती है। उसकी शांति-स्थापना की शक्ति देश की उस ताकत पर कि जिससे वह अपरिमित जानलेवा बना रहने के दावे को, अपने दोस्तों और दुश्मनों दोनों को, बता सके—उस पर निर्भर है। आधुनिक बन्दूक गोलियां और युद्ध-रसायन इतने असरकारक हैं कि यदि उनकी जरा-सी तादाद भी अभीष्ट "ग्राहक" (Client) को दे दी जाये तो निश्चित मौत अथवा अंगभंग होता ही है। लेकिन उनकी तादाद और लागत दिन-पर-दिन बढ़ती जाती है; एक मृत वियतनामी के पीछे 1967 में 3,60,000 डालर खर्च हुआ और 1969 में 4,50,000 डालर। सिर्फ रेस में आत्महत्या के ऊपर औसत खर्च के मुकाबले ही युद्ध-खर्च का यह औसत सस्ता पड़ सकता है। युद्ध का भस्मासुरी प्रभाव साफ दिखाई देता है; वियतनामी-मृतकों की गौत-की-संख्या (body count) जितनी ऊंची होती है; संसार में संयुक्त राज्य अमेरिका के दुश्मनों की संख्या वैसी ही बढ़ती जाती है; और उसी प्रकार, सं. रा. अमेरिका को एक और अटकलपंथी संस्था (manipulative institution) निर्माण करने के लिए खर्च बढ़ाना पड़ता है—जिसे सुर्खता के साथ "शांति स्थापन" ("Pacification") पुकारा जाता है—जो कि युद्ध के कारण उत्पन्न दुष्प्रभावों (Sideeffects) को सोखने का निरर्थक प्रयास भर ही है।

तस्वीर के इसी सुदूर कोने में ही हमें सामाजिक संस्थाएं भी दिखाई पड़ती हैं जो अपने "ग्राहकों" की जोड़तोड़-उधेड़बुन में विशेषज्ञता हासिल किए होती हैं। सेना की तरह ही, कि जैसे-जैसे उनके कारोबार की गुंजाइश बढ़ती जाती है, वे ऐसे प्रभावों के विकास की ओर प्रवृत्त होती हैं जो उनके उद्देश्यों के विपरीत हैं। ये सामाजिक-संस्थाएँ भी उतनी ही प्रतिगामी-उत्पादक हैं, हालांकि वैसी

दिखाई नहीं देती। उनमें से कई-एक ऐसी रोगनिदानी और रहस्यदिश सूरत ओढ़े रहती हैं कि जिससे यह विरोधाभासी प्रभाव ढका रहे। उदाहरणार्थ, कारागार, जो दो शताब्दी पूर्व तक, लोगों को दण्डित करने, अंग-भंग करने, मार डालने अथवा देश-निकाला देने के पहले कैद करे रखने के साधन का काम करते थे, और कभी-कभी ये यंत्रणा देने के एक रूप में भी जानबूझकर इस्तेमाल होते थे। लेकिन अब तो हम यह दावा करने लगे हैं कि लोगों को पिंजरे में बन्द रखने से उनके चरित्र और स्वभाव पर 'लाभप्रद' प्रभाव पड़ता है। बहुत से लोग अब यह समझने लगे हैं कि जेल दोनों ही बातें बढ़ाता है—अपराधियों की क्वालिटी और तादाद-और, वे यह भी समझने लगे हैं कि वह उन दोनों ही बातों को सिर्फ व्यवस्था-विरोधियों में से ही रचता है। अत्यन्त थोड़े से लोग, बहरहाल, यह भी समझने लगे हैं कि मानसिक-चिकित्सालय, नर्सिंग-होम, अनाथालय भी बिलकुल यही काम करते हैं। ये संस्थाएं उनके मुवक्किलों को मनोविक्षिप्त, अधिकायु-बूढ़े अथवा लावारिस का विनाशमय आत्म-चित्र प्रदान करती हैं; और उनमें लगे लोगों के व्यवसायों के अस्तित्व के लिए एक तर्क आधार प्रदान करती हैं—ठीक वैसे ही जैसे जेलों के कारण पहरेदारों की नौकरियां-और-वेतन हैं। तस्वीर के इस सुदूर कोने में स्थापित संस्थाओं में दाखिला दो तरीके से मिलता है, और वे दोनों ही तरीके क्रूर हैं: बलात गुनाह-कुबूली से, अथवा जबर्दस्ती-भर्ती से।

तस्वीर के दूसरे सुदूर कोने में वे संस्थाएं हैं जो स्वयंस्फूर्त रीति से प्रतिष्ठित हैं—"आनन्द प्रदायक" संस्थाएं। टेलीफोन-शृंखला, तलपथ ट्रेनें, डाक व्यवस्थाएं, पब्लिक मार्केट और मुद्राविनिमय-व्यापार को, अपने मुवक्किलों को, उनके उपयोग वास्ते ललचाने के लिए, किसी भी तरह की कठोर अथवा मुलायम झांसेबाजी की जरूरत नहीं पड़ती। मल-निकास तंत्र, पीने का पानी, बगीचे और चहलकदमी-उद्यान ऐसी संस्थाएं हैं जिन्हें उपयोग में लेते वक्त मनुष्य को इस संस्थायी-स्वीकारोचित की जरूरत नहीं पड़ती कि वैसा करना उनके लिए फायदेमन्द होता है। अवश्य ही, सभी संस्थाओं को किसी व्यवस्था की आवश्यकता होती है। लेकिन, कुछ उत्पादन करने के बजाय स्वयं ही उपयोग में आने वाली संस्थाओं का संचालन करने के नियम, अटकलबाज उपचारी-संस्थाओं (treatment-institutions which are manipulative) के संचालन के नियम से भिन्न होते हैं: उपयोग के लिए बनी संस्थाओं का संचालन करने वाले नियम ऐसी बुराईयों को टालने के काम में आते हैं जो उनकी सामान्य सुगमता को हताश करती हों। जैसे फुटपाथ अवरोध रहित होने चाहिये, पीने के पानी का

औद्योगिक उपयोग किसी सीमा तक ही होना चाहिए, और बगीचे के किसी निर्धारित हिस्से तक ही गेंद-का-खेल प्रतिबंधित होना चाहिये। आज हमारी टेलीफोन-प्रणाली का कम्प्यूटर द्वारा दुरुपयोग, डाक-सेवाओं का विज्ञापनदाताओं द्वारा कुप्रयोग, और मल-निकास-प्रणाली का औद्योगिक पानी से प्रदूषण रोका जाना जरूरी है। आनन्दप्रदायक संस्थाओं का नियमन उनके उपयोग की सीमाएँ निर्धारित करता है; लेकिन जैसे ही हम तस्वीर के "आनन्द प्रदायक" किनारे से मुड़कर "अटकली" (manipulative) किनारे की तरफ आते हैं तो देखते हैं कि सारे नियम अनिच्छुक खपत अथवा साझेदारी की ओर झुकते ही चले जाते हैं। दोनों संस्थाओं में मुवक्किलों को दाखिल करने की कीमतों में जो बड़ा अन्तर है वो ही अपने-आप में कई बड़े लक्षणों में से एक है कि जो "आनन्द प्रदायक" संस्थाओं और "अटकलबाज" संस्थाओं का भेद स्पष्ट कर देता है।

तस्वीर की दोनों ही चरमसीमाओं पर सेवा-संस्थाएँ हैं लेकिन दाहिनी छोर में सेवा आरोपित-अटकल है, और मुवक्किल को विज्ञापन, आक्रमण, नियंत्रित मत-शिक्षण (indoctrination), कारावास अथवा बिजली-झटके का शिकार बनाया जाता है। बाँयी छोर में सेवा विधिवत् निर्धारित सीमाओं के भीतर विस्तृत अवसर है जहाँ मुवक्किल मुक्त एजेन्ट है। दाँयी ओर की संस्थाएँ एकदम जटिल और महँगी उत्पादन प्रक्रियाएँ बनने की ओर झुकती-रुकती हैं कि जिनमें संपन्नता और खर्च का अधिकांश भाग विश्वसनीय उपभोक्ताओं से इस तरह संबंधित है कि वे संस्था के द्वारा उत्पादित सामान अथवा सेवा के बिना जी नहीं सकते। बाँयी-ओर की संस्थाएँ ऐसी शृंखलाएं बनने की ओर झुकती रुकती हैं जो मुवक्किल-की-पहल पर आधारित संचार अथवा सहकार को सुगम बनाती है।

दाहिनी ओर की अटकली संस्थाएँ या तो सामाजिक तौर पर अथवा मनोवैज्ञानिक स्तर पर "व्यसनी" हैं। सामाजिक व्यसन या क्रमशः ऊपर चढ़ने का मतलब ऐसी प्रवृत्ति कि यदि छोटे नुस्खों से काम न बन सके तो उपचार को बढ़ाते ही चले-चलो। मनोवैज्ञानिक व्यसन, या आदतखोरी तब प्रतिफलित होती है कि जब उपभोक्ता, सेवा-प्रक्रिया अथवा उत्पादित-माल को ज्यादा-से-ज्यादा जरूरी मानकर, उसकी माँग में फँस जाता है। स्वयं-उत्तेजित संस्थाएँ स्वयं-सीमित होने को प्रवृत्त रहती है। उत्पादन-प्रक्रियाओं में तो बाँयी ओर की शृंखलाएं अपने ही दोहराते उपयोग से बहुत ज्यादा बड़ा मकसद हासिल करती हैं। कोई

पर असीम खर्च न्यायसंगत है, अथवा, हम पुनः खोज करें कि विधि-व्यवस्था, योजना और पूँजी-निवेश का यदि औपचारिक शिक्षा में कोई स्थान है तो उन्हें अधिकांशतः उन अवरोधों को तोड़ने के उपयोग में लाना चाहिये जो ज्ञानप्राप्ति के अवसरों में बाधा पहुंचा रहे हैं —ज्ञानप्राप्ति—जो सिर्फ व्यक्तिगत (Personal) गतिविधि ही हो सकती है।

इस अवधारणा को-कि मूल्यवान ज्ञान एक ऐसी उपभोग-वस्तु (कमोडिटी) है जो किन्हीं विशेष परिस्थितियों में उपभोक्ता के भीतर धँसायी जा सकती है—इस धारणा को यदि हम चुनौती नहीं देते हैं तब तो मनहूस छद्म स्कूलों, और सूचनाओं के एकाधिकारवादी मैनेजरों के द्वारा समाज पर बढ़ता हुआ शिकंजा हावी होता जायेगा। शिक्षाई-डाक्टर अपने छात्रों को अधिक-से-अधिक दवाई पिलायेंगे ताकि उन्हें बेहतर पढ़ा सकें, और छात्र खुद अधिक दवाई पियेंगे ताकि उन्हें शिक्षकों के एवं प्रमाण-पत्रों की दौड़ के दबावों से राहत मिले। लगातार बढ़ती हुई संख्या में नौकरशाह शिक्षकों का स्वांग भरेंगे। स्कूलमैन की भाषा विज्ञापक (adman) के द्वारा अपने में समाहित कर ही ली गई है। अब तो फौज का जनरल और पुलिसमैन शिक्षाकारों के रूप का स्वांग भर कर अपने व्यवसायों को प्रतिष्ठित बनाने का प्रयास करते हैं। स्कूलीकृत-समाज में, सैन्य-हरकतें (War-making) और नागरिक-दमन को शिक्षायी-तर्काधार (Educational rationale) मिल जाता है। लोगों को अनंत प्रगति के सुपीरियर मूल्यों की शिक्षा देने के किसी अकेले तरीके के रूप में वैश्विक—आक्रमण (Padagogical warfare) को उत्तरोत्तर न्यायसंगत बताया जायेगा, जैसे वियतनाम युद्ध को तर्कसंगत बताया जाता रहा है।

दमन को किसी ऐसे मिशनरी प्रयास के रूप में मान लिया जायेगा जैसे कि वह मैकेनिकल मसीहा के आगमन की गति में तेजी लाने के लिए जरूरी है। ज्यादा देश शिक्षाचारी-यंत्रणा की जरूर में जायेंगे जैसा कि ब्राजील और यूनान में लागू कर ही दिया गया है। यह शिक्षाचारी—यंत्रणा सूचना सींचने अथवा परपीड़कों की जरूरतों की संतुष्टि के लिए नहीं है। यह तो समूची जनता की अखण्डता को तोड़ने वाले तर्कहीन आतंक पर टिकी है और टेक्नोक्रेटों के द्वारा खोजे गये शिक्षण के लिए पूरी जनसंख्या को प्लास्टिक मटेरियल (नमनीय सामान) बनाती है। अनिवार्य शिक्षण (Obligatory instruction) का समूचा विनाशकारी और लगातार बढ़ता हुआ स्वभाव अपने अंतिम तर्क तक जा पहुँचेगा

यदि हम हमारे शिक्षाचारी दंभ से बिलकुल शीघ्र ही मुक्त होना शुरू करने में देरी करें, याने उस मान्यता से मुक्त होने में देरी करें कि मनुष्य वह कर सकता है जो ईश्वर नहीं कर सकता, अर्थात, कि वह दूसरों को "अटकल" (मेनिपुलेशन) से मोक्ष दिला सकता है।

पर्यावरण की बरबादी की ओर वर्तमान कल-कारखानों का जो रुख है, उस निर्मम विनाश के प्रति अनेक लोग सजग होने लगे हैं, हालाँकि उस रुख को बदलने में वैयक्तिक विरोधों का बहुत ही सीमित प्रभाव होता है। आदमियों और औरतों का, स्कूलों के द्वारा शुरू हुआ अटकलों शिक्षण (मनीपुलेशन) एक ऐसे बिन्दु पर पहुंच गया है जहां से वापस लौटा नहीं जा सकता, और फिर अधिकांश लोग उस बाबत् अभी भी बेखबर हैं। वे अभी भी स्कूल-सुधार पर जोर दे रहे हैं, जैसे कि हेनरी फोर्ड तृतीय ने कम-जहरीली मोटरकारों के निर्माण का प्रस्ताव रखा है।

डेनियल बेल का कहना है कि हमारे युग का विशेष लक्षण यह है कि उसमें सांस्कृतिक और सामाजिक सांचों के दरम्यान जबर्दस्त फांक है—एक इल्हामी (ईश्वरीय) रूपों के प्रति समर्पित है तो दूसरा टेकनोक्रेटिक इरादों के प्रति समर्पित है। यह बात उन अनेक शिक्षाची सुधारकों के लिए सच हो सकती है जो आधुनिक स्कूलों की चारित्रिक-विशेषताओं की लगभग हर बात की भर्त्सना करने को बाध्य होते हैं—और उसी के साथ नये स्कूलों को रचने का प्रस्ताव करते हैं।

अपनी पुस्तक "द स्ट्रक्चर आफ साईंटिफिक रिवोलूशन" में थामस कुहन अपना तर्क प्रस्तुत करते हैं कि इस तरह की विसंगति, **बोध-किये-जा-सकने वाले किसी नये आदर्श** (Cognitive Paradigm) के उद्भव के पूर्व अवश्य ही आती है। वे तथ्य जो उन लोगों के द्वारा सूचित किये गये जिन्होंने चीजों के गिरने का अवलोकन किया था, और वे तथ्य कि जिनकी सूचना पृथ्वी की दूसरी ओर से आने वालों ने दी थी, और वे तथ्य जो नये टेलीस्कोप का उपयोग करने वालों ने दिये थे—ये सारे तथ्य विश्व की टालेमिक-अवधारणा से मेल नहीं खाते थे। एकदम एकाएक, न्यूटोनिक आदर्श स्वीकार कर लिया गया। आज के अनेक युवजनों की चारित्रिक-विशेषता में झलकती है ऐसी विसंगति जो मनोवृत्तियों की किसी बात—कोई सहिष्णु समाज कैसा 'नहीं' हो, इस बाबत किसी भावना—के

रूप में बोध-की-जा-सकने-वाली बात उतनी नहीं है। इस विसंगति के बावत् अचरज यह है कि ज्यादातर लोगों में उसे बर्दाश्त करने की क्षमता है।

बेतुके उद्देश्यों का पीछा करते जाने की क्षमता की पड़ताल की जानी चाहिये। बेन्स स्लकमेन के अनुसार, सभी समाजों में ऐसी विसंगतियों को अपने सदस्यों से छिपाने के तौर तरीके हैं। वह सुझाते हैं कि कर्मकाण्ड का आशय यही होता है। कर्मकाण्ड सामाजिक सिद्धांत और सामाजिक संगठन के दरम्यान विसंगतियों और अन्तरविरोधों तक को अपने सहभागियों से छिपा सकता है। कोई व्यक्ति जब तक उस प्रक्रिया के कर्मकाण्डी चरित्र के प्रति स्पष्ट रूप से सजग नहीं होता है कि जिसके जरिये वह उन ताकतों से दीक्षित कराया गया था जो उसके ब्रह्माण्ड को रूपाकृत करते हैं, तब तक वह इन्द्रजाल को तोड़ नहीं सकता और नया ब्रह्माण्ड रच नहीं सकता। हम जब तक उस कर्मकाण्ड के प्रति सजग नहीं होते हैं कि जिसके जरिये स्कूल खपत-बढ़ाते-ही-जाते उपभोक्ता को ढालता है—जो कि इस अर्थव्यवस्था का प्रमुख स्रोत है—तब तक हम अर्थव्यवस्था की माया को तोड़ नहीं सकते और नई अर्थव्यवस्था रच नहीं सकते।

4

संस्थायी तस्वीर

अनेक यूटोपियावादी युक्तियाँ और भविष्यवादी पटकथाएं नई और महँगी टेक्नालॉजियों की माँग करती हैं जिन्हें धनी और गरीब देशों को एक ही कीमत पर बेचना ही होगा। हरमन कान्ह ने वेनेजुएला, अर्जेन्टाइना और कोलम्बिया में अपने शिष्य खोज लिये। सन् 2000 के ब्राजील के बाबत् सर्जियो बेनडिक्ट का सनकी दिमाग स.रा. अमेरिका के पास आज उपलब्ध मशीनरियों से भी ज्यादा मशीनरियाँ अपने देश में आ जाने के स्वप्न से चमचमाने लगा है—जबकि तब तक स.रा. अमेरिकी औद्योगिक स्थिति में आज की तकनीकें 1960 और 1970 की "प्राचीन मिसाइलों", "पुराने जेटपोर्टों" और "प्राच्य नगरों" की प्रदर्शनियों में तब्दील हो जायेंगी। भविष्यवादी (फ्यूचरोलॉजिस्ट) बकमिन्सटर फुलर से प्रेरणा पाकर सस्ती और विदेशी युक्तियों पर निर्भर होने लगेंगे। वे किसी नयी लेकिन संभाव्य टेक्नालॉजी की स्वीकृति पर उम्मीद लगाते हैं कि जो हमें कम लागत पर ज्यादा दे, जैसे सुपरसोनिक ट्रांसपोर्ट के बजाय लाइटवेट मोनोरेल; समतल बिखरे मकानों में घर बसाने की अपेक्षा ऊँचे भवनों में फ्लैट-जीवन। आज के तमाम भविष्यवादी योजनाकार हर उस बात को कि जो टेक्नीकली संभव है उसे पूंजी-संगत (economically feasable) बनाने की खोज-बीन करते हैं लेकिन इस बात की जरा भी परवाह नहीं करते कि उसके अपरिहार्य सामाजिक परिणाम क्या होंगे। उन्हें इस बात की बिलकुल चिंता नहीं है कि सारे लोगों की ललक उन सभी चमचमाते सामान और सेवाओं के लिए बढ़ती जाती है और वह चमचमाता सामान और सेवा-सुविधाएं सिर्फ कुछ लोगों के हाथ में विशेषाधिकृत बनी रहती हैं।

मैं सोचता हूँ कि मनोवांछित भविष्य इस बात पर निर्भर करता है कि हम उपभोक्ता जीवन पद्धति की अपेक्षा कर्मशील जीवन पद्धति को जबर्दस्ती चुनें; एक

व्यक्ति टेलीफोन को तभी उठाता है कि जब उसे किसी अन्य व्यक्ति से बात करना होता है, और वांछित बातचीत के पूरा होने पर वह उसे टाँग देता है। वह (सिवाय किशोरों के) महज रिसीवर में मुँह डालकर बोलने के आनन्द के लिए टेलीफोन का उपयोग नहीं करता। यदि टेलीफोन से उपयुक्त काम नहीं बने तो खत लिखा जा सकता है अथवा स्वयं बात भी हो सकती है। दाँयी-ओर की संस्थाएं (जिसका कि स्पष्ट दृष्टांत स्कूल है) दोनों कुकर्म करती हैं: अनिवार्य दोहराता उपयोग और नतीजों को हासिल करने के वैकल्पिक तरीकों को हताश करना।

संस्थायी तस्वीर के बाँयी-ओर प्रमुख (हालांकि स्पष्टत: बाँयी-ओर स्थापित नहीं) ऐसे उद्यम छांटे जा सकते हैं जो अपने ही मैदान में दूसरों से प्रतिस्पर्धा तो करते हैं लेकिन जिन्होंने विज्ञापनबाजी में जमने का काम उल्लेखनीय रूप से आरम्भ नहीं किया हुआ है। इनमें आते हैं ऐसे उद्यम जैसे घरेलू कपड़ा—धुलाई, लघु—बेकरी, बाल काटने की दुकान; और प्रोफेशनल लोगों में—कुछ वकील, कुछ संगीत-शिक्षक। अत: केन्द्र से लाक्षणिक तौर पर बाँयी-ओर स्वयं-नियुक्त लोग हैं जिन्होंने अपनी सेवाओं को तो संस्थायी बना लिया है लेकिन पब्लिसिटी को नहीं। वे "ग्राहकों" को और अपनी सेवाओं की तुलनात्मक क्वालिटी को अपने वैयक्तिक संपर्क से हासिल करते हैं।

होटल और ढैंके केन्द्र के काफी समीप हैं। अनेक नगरों में फैली "हिल्टन होटलें" जो अपनी छवि को दर्शाने के लिये विज्ञापन आदि पर बड़ा खर्च करती है—वे अक्सर इस तरह व्यवहार करती हैं जैसे उन्हें दाँयी-ओर की संस्थाएं कहा जाये। लेकिन "हिल्टन" और "शेरटन"—अमूमन उतनी ही कीमती और स्वतंत्र रूप से संयोजित ठहरने-खाने की व्यवस्था वाली होटलों से ज्यादा कुछ नहीं देतीं—वास्तव में तो वे अक्सर कम सुविधाएं ही देती हैं। वस्तुत: किसी यात्री के लिए होटल-का-साइनबोर्ड किसी रोड-साइन की तरह ही ध्यानाकर्षित करने वाला होता है। वह कहता है, "ठहरो, यहाँ तुम्हारे लिए एक पलंग है", बजाय यह कहने के कि "किसी पार्क की बेंच के बजाय तुम्हें एक होटल का पलंग पसंद करना चाहिये!"

संस्थायी तस्वीर के मध्य में दिखावटी फिल्स (याने वाणिज्य की प्रमुख वस्तुओं) के तथा अत्यन्त नाजुक सामान के उत्पादक होते हैं। वे व्यापक माँग की पूर्ति करते हैं और उत्पादन तथा वितरण-व्यय में वह सारा विज्ञापन-खर्च तथा

विशेष-पैकेजिंग खर्च जोड़ते हैं कि जिसका भार बाजार उठा सके। उत्पाद जितना बुनियादी होगा, वह चाहे सामान हो चाहे सेवाएँ, प्रतिस्पर्धा के द्वारा उसका बिक्री-मूल्य उतना ही ज्यादा सीमित किया जाने की ओर नमेगा।

उपभोक्ता-माल के अनेक उत्पादक बहुत ज्यादा दाहिनी-ओर झुक गये हैं। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों ही तरीकों से, वे दीगर सामान (accessories) के लिए माँग पैदा करते हैं जो बाजार-भाव को उत्पादन-मूल्य के अत्यन्त ऊपर उठा देते हैं। "जनरल मोटर्स" और "फोर्ड" कम्पनियाँ परिवहन-के-साधनों का उत्पादन करती हैं, किन्तु उनमें अतिरिक्त तथा ज्यादा ही महत्व देकर, वे जनरुचि को छल-योजना से इस तरह साधती हैं कि परिवहन की जरूरत पब्लिक बसों की माँग के बजाय निजी कारों के रूप में प्रदर्शित होती रहे। वे किसी मशीन पर निजी नियन्त्रण करने की और विलासी आरामदेह तेज-रफ्तारी रेस की लालसा को लपकाती हैं, और साथ ही-साथ सड़क के किनारे किसी फंतासी का ऑफर देती हैं। जो वे बेचती हैं, वह सिर्फ बड़ी-बड़ी वाहियात मोटरकारें, अति-अतिरिक्त युक्तियाँ अथवा राल्फनेडेर द्वारा और स्वच्छ हवा के वकालतियों द्वारा उत्पादकों पर थोपे गये नये—नये उपलाघवों की ही बात नहीं है। मूल्य-सूची में पीछे हटा इंजिन (Souped-up engine) वातानुकूलन, सेफ्टी बेल्ट और एग्जास्ट कंट्रोल शामिल हैं; लेकिन अन्य कीमतें जो ड्राइवर (खरीदार) को खुले आम दर्शायी गयी नहीं हैं वे भी गुँथी हुई हैं; जैसे—औद्योगिक संयंत्र के विज्ञापन खर्च और बेलस व्यय, ईंधन, रख-रखाव और पुर्जे, बीमा, तथा रकम पर ब्याज; और इनके साथ-ही-साथ कुछ अमूर्त दाम, जैसे हमारे भीड़ भरे नगरों में समय की, मिजाज की, और स्वच्छ-श्वसन वायु की बर्बादी।

समाजिक-उपयोग की संस्थाओं बाबत् हमारी इस चर्चा का अत्यन्त दिलचस्प उप-सिद्धांत "पब्लिक" हाइवेज का सिस्टम ("सार्वजनिक" राजमार्गों की प्रणाली) है। कारों की सकल कीमतों के इस प्रमुख तत्व पर ज्यादा लम्बी बहस की जरूरत है चूँकि यह स्पष्टतः उस दाँयी संस्था, यानि "स्कूल", की ओर उन्मुख है जिसकी खोजबीन में मेरी गहरी रुचि है।

छद्म सार्वजनिक उपयोगिताएँ

हाइवे सिस्टम मोटरगाड़ियों की लम्बी दूरियों की आवाजाही के लिए एक नेटवर्क है। नेटवर्क के रूप में, वह संस्थायी तस्वीर के बाँयी ओर दिखाई देता-सा मालूम पड़ता है। लेकिन यहीं पर ही हमें उस भेद को पकड़ लेना चाहिये जो हाइवेज की प्रकृति और सच्ची सार्वजनिक-उपयोगिता की प्रकृति दोनों को ही

स्पष्ट कर दे। सचमुच तो, सर्वोपयोगी सड़कें ही सच्ची सार्वजनिक उपयोगिताएँ हैं। सुपर हाइवेज को निजी संरक्षण है, कि जिनकी कीमतें जनता के ऊपर कुछ हद तक धोखे से थोप दी गई हैं।

टेलीफोन, डाक-तार एवं सड़कें (हाइवेज) ये सभी प्रणालियाँ नेटवर्क हैं, और उनमें से कोई भी फ्री (निःशुल्क) नहीं है। गोकि, टेलीफोन-नेटवर्क का अति-उपयोग हरेक कॉल पर टाइम चार्ज लगाकर सीमित रखा गया है। ये दरें अपेक्षाकृत कम हैं और प्रणाली की प्रकृति में किसी भी परिवर्तन के बिना घटायी जा सकती हैं। टेलीफोन-प्रणाली का उपयोग, उसके द्वारा जो कुछ प्रसारित किया जा रहा है उसे सीमित करके कतई प्रतिबंधित नहीं है यद्यपि उसे उनके द्वारा ही सर्वोत्तम प्रकार से उपयोग में लिया जाता है जो दूसरी ओर के व्यक्ति (फोन रिसीव करने वाले व्यक्ति) की भाषा में संगत वाक्यों को बोल सकता हो—यह ऐसी योग्यता है जो सर्वभौम रूप से सिर्फ उनके द्वारा ही धारण की हुई है जो इस नेटवर्क का उपयोग करना चाहते हैं। डाक भेजना आमतौर से कम खर्चीली प्रणाली है। पोस्टल-सिस्टम का उपयोग पेन और कागज की कीमत के कारण थोड़ा सीमित होता है, और लिखना ही न आने के कारण तो घटता ही है। फिर भी, कोई, कि जिसे लिखना न आता हो वह अपने किसी रिश्तेदार को अथवा मित्र को मजमून लिखवा सकता है अथवा पोस्टल-सिस्टम उसकी सेवा में वैसे ही है जैसे कोई रेकार्ड-किया-हुआ टेप जहाज से भेज रहा हो।

लेकिन उसी तरह से हाइवे-सिस्टम (राजमार्ग-प्रणाली) हर किसी को उप-लब्ध नहीं हो जाता जो सिर्फ ड्राइव करना भर जान गया हो। टेलीफोन और पोस्टल नेटवर्क उनके लिए तो हैं ही कि जो उनका उपयोग करना चाहते हों, मगर हाइवे-सिस्टम प्रमुखतः निजी कार के दीगर-सामान (accessories) के रूप में ही इस्तेमाल होता है। पहली दो प्रणालियाँ तो वास्तविक सार्वजनिक सेवाएँ हैं, जबकि हाइवे-सिस्टम निश्चय ही कारों, लारियों और बसों की सेवा में ही रत है। सार्वजनिक उपयोगिताएँ लोगों में परस्पर संपर्क प्रसार के लिए बनी हैं; किन्तु हाइवेज, अन्य दाहिनी-संस्थाओं की तरह एक उत्पाद के खातिर अस्तित्व में हैं। कार निर्माता, जैसा कि हम जाँच चुके हैं, दोनों ही चीजें एक साथ निर्मित करते हैं—कारें व कारों की माँग। ये बहु-सड़कों वाले राजपथों (multilane high-ways), पुलों, और तेल क्षेत्रों की माँग भी उत्पन्न करते हैं। निजी कार दाँयें पक्ष की संस्थाओं के पुंज का केन्द्र-बिन्दु है। प्रत्येक तत्व की ऊँची कीमत बुनियादी

उत्पाद को बढ़ा-चढ़ा कर बताने के द्वारा निर्धारित होती है, और बुनियादी उत्पाद को बेचने का अर्थ है समूचे पैकेज पर पूरी सोसायटी को टांग देना।

हाइवे-सिस्टम को सच्ची सार्वजनिक उपयोगिता की तरह संयोजित करना उनके विरुद्ध जायेगा कि जिनके दिमाग में **वैयक्तिक-आराम और तेज-रफ्तार बुनियादी परिवहन-मूल्य** है, और उनके पक्ष में जायेगा कि जो **बहाव और गंतव्य** को मूल्यवान समझते हैं। यह वह महत्वपूर्ण फर्क है जो उस **तेज-रफ्तारी नेटवर्क** कि जो केवल सीमित क्षेत्रों के विशेषाधिकारियों की सुविधा के लिए ही समर्पित हो, उसके, **और**, किसी **सर्वव्यापी नेटवर्क** कि जिसमें सभी वासियों को अधिकतम आजादी मिले, इसके दरम्यान है।

किसी आधुनिक संस्था का विकासशील देशों में पहुंचना उसकी गुणवत्ता की तीखी पहचान को उजागर करता है। अत्यन्त गरीब देशों में सड़कें अमूमन सिर्फ इतनी भर ही अच्छी होती हैं कि किराना-माल, पशु, अथवा मनुष्य से लदे बड़े-बड़े मजबूत एक्सल वाले स्पेशल ट्रकों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जा सकें। इस तरह के देश को अपने सीमित साधनों द्वारा ऐसी सड़कों का जाल उसके हर इलाके तक फैलाना चाहिये, और ऐसे ही अत्यन्त टिकाऊ मजबूत मोटर-वाहनों के दो या तीन मॉडिलों के ही आयात तक सीमित रहना चाहिए कि जो सभी तरह के रास्तों पर बगैर टूट-फूट के कम गति पर आवागमन कर सकें। इससे इन गाड़ियों के स्पेअर पार्ट का रख-रखाव आसान हो सकेगा, इन वाहनों का संचालन चौबीसों घण्टे जारी रह पायेगा, और सारे नागरिकों को अधिक-से-अधिक बहाव एवं गंतव्यों के अनेक विकल्प उपलब्ध होंगे। इसके लिए ऐसे सर्वोपयोगी वाहन (all-purpose vehicles) के निर्माण की यांत्रिकी लगेगी जिसमें मॉडिल टी (Modal T) की सरल सहजता हो, अत्यन्त आधुनिक धातु-मिश्रणों (alloys) का उपयोग हो ताकि टिकाऊपन बढ़े, भीतरी बनावट में ही पन्द्रह किलोमीटर प्रतिघण्टे की रफ्तार की अधिकतम सीमा रहे और इतना बलवान हो कि अत्यन्त अनगढ़-कच्ची सड़कों पर भी बाधा कर सके। ऐसे वाहन बाजार में उपलब्ध नहीं हैं क्योंकि उनकी कोई मांग नहीं है। वास्तव में तो, ऐसी मांग को पनपाना पड़ेगा, कदाचित् किसी सख्त कानूनी संरक्षण के अन्तर्गत। आज, जब कभी ऐसी मांग जरा-सी भी महसूस की जाती है, तो वह ऐसे प्रतिगामी-प्रचार के द्वारा उड़ा दी जाती है जो उन मशीनों की सार्वभौमिक-बिक्री को साधे हुए होता है कि जिनके द्वारा संयुक्त राज्य अमेरिका के करदाताओं से धन खींचा जाकर सुपरहाइवेज (विशाल राजपथों) का निर्माण बरकरार रखा जावे।

परिवहन की "तरक्की" ही, इस दृष्टि से सारे देश, गरीब-से-गरीब भी, अब ऐसी पैसेंजरकारों और तेज मोटरगाड़ियों के अनुकूल हाइवे-सिस्टम (राजपथ-प्रणाली) की संयोजना करते हैं कि जो प्रबुद्धवर्गों (elite classes) के अन्तर्गत उत्पादकों और उपभोक्ताओं के एक छोटे-से हिस्से की तीव्रगति-मानसिकता के उपयुक्त हो। अक्सर ही, यह स्वप्न, किसी गरीब देश के, अत्यन्त बहुमूल्य स्त्रोत की बचत के रूप में, ऐसे तर्कसंगत बना दिया जाता है:—डाक्टर को, स्कूल-निरीक्षक को, प्रशासकीय अधिकारी को जल्दी-से-जल्दी काम पर या जाँच पर जाने में यह अत्यन्त जरूरी है। ये अधिकारी, निश्चय ही, मात्र उन्हीं लोगों की सेवा में रत हैं जिनके पास "एक कार" या तो है ही या एक-न-एक दिन आ सकती है। स्थानीय करों से आमदनी और अंतर्राष्ट्रीय विनिमय से प्राप्त दुर्लभ धन को "झूठी सार्वजनिक उपयोगिता" पर इस तरह बर्बाद किया जाता है।

आधुनिक टेक्नालॉजी, कि जिसका स्थानांतरण गरीब देशों को किया गया है, उसकी तीन प्रमुख किस्में हैं:—सामान, फैक्टरियां जो उस सामान का उत्पादन करती हैं, और सेवा संस्थाएँ—(खासकर स्कूल)—जो मनुष्य को आधुनिक निर्माता और आधुनिक उपभोक्ता बनाती हैं। अधिकांश देश अपने बजट का एक अत्यन्त बड़ा भाग स्कूलों पर व्यय करते हैं। विद्यालयी-स्नातक (School made graduates) फिर अन्य आइंडरी उपयोगिता की मांग उत्पन्न करते हैं—जैसे कि औद्योगिक यन्त्र, दरदरे राजपथ (Paved highways), आधुनिक अस्पताल और हवाई अड्डे, और फिर बदले में ये चीजें ऐसे बाजार को बढ़ावा देती हैं जो धनी देशों के लिए बने सामान के उपभोग को प्रोत्साहित करता है, तथा कुछ समय बीतते, ऐसी फैक्टरियों का आयात करने की प्रवृत्ति जोर पकड़ती है जो वहाँ बनाई करार दे दी गई हो।

सारी "झूठी उपयोगिताओं" में स्कूल सर्वाधिक कपटी है। राजपथ प्रणालियाँ (Highway Systems) तो सिर्फ कारों की मांग उत्पन्न करती हैं। लेकिन, स्कूल उन आधुनिक संस्थाओं के समूचे सेट के लिए मांग पैदा करता है जो तस्वीर की दूसरी ओर ही झूमी हुई होती है। एक आदमी जो कि राजपथों (highways) की जरूरत पर आशंका जाहिर करे वह तो खैर रोमेंटिक करार दिया जाकर नकारा जायेगा; लेकिन यदि कोई आदमी कि जो स्कूल की जरूरत पर संशय व्यक्त करे उसे हृदयहीन अथवा साम्राज्यवादी कहकर लताड़ा जायेगा।

स्कूल—झूठी सार्वजनिक उपयोगिता के रूप में

हाइवेज की तरह, स्कूल, पहली नजर में, ऐसा भास देते हैं जैसे वे सभी लोगों के लिए समान रूप से खुले हैं। वे, हालांकि, सिर्फ उन्हीं के लिए ही खुले हुए हैं जो लगातार ताजा प्रमाण-पत्रों को हासिल करते जाते हैं। हाइवेज ऐसा भास देते हैं कि उनके निर्माण और रख-रखाव पर बड़ा खर्च इसलिए जरूरी है कि लोग उन पर आ जा सकें, ठीक उसी तरह स्कूल ऐसे माने गये हैं जैसे वे इसलिए अनिवार्य हैं कि जिनके द्वारा वह दक्षता हासिल की जा सकती है जो किसी समाज के लिये आधुनिक टेक्नोलॉजी के उपयोग हेतु जरूरी है। हमने तीव्रगति-राजमार्गों की दोगली सार्वजनिक-उपयोगिता का भेद खोल दिया कि वे निजी कारों की माँग पर निर्भर हैं; बिलकुल वैसे ही, स्कूल इस दोगली अवधारणा पर टिका है कि ज्ञानप्राप्ति (learning, पाठ्यक्रमी शिक्षा का प्रतिफल है।

गतिशीलता की आकांक्षा और लालसा विकृत होकर निजी कार की जरूरत में बदली जिसके फलस्वरूप राजमार्ग (highways) उत्पन्न हुए। स्कूल तो स्वयं ही, उन्नति और ज्ञानप्राप्ति के स्वाभाविक झुकाव को विकृत करके शिक्षण की जरूरत में बदलते हैं। बनावटी सामान (manufactured goods) की माँग की तुलना में बनावटी प्रौढ़ता (manufactured maturity) की माँग से स्वयं-सूत्र-शाली गतिविधि को कुछ ज्यादा ही बड़ा आघात पहुँचता है। स्कूल तो हाइवेज और कारों के भी दाँयी-ओर हैं, बल्कि उनकी स्थिति संस्थायी-तस्वीर के एकदम दाँये-कोने में वहाँ पर है जहाँ पूरे पागलखाने बसे हुये हैं। यहाँ तक कि "बॉडी काउंट" के निर्माता भी केवल शरीरों का नाश करते हैं; लेकिन, लोगों को अपने स्वयं के विकास की जिम्मेदारी को त्याग देने वाला बनाकर, स्कूल उन्हें आत्मा-के-हनन की ओर धकेलता है।

हाइवेज के लिए तो उनसे खैर थोड़ा बहुत वसूला ही जाता है कि जो उनका उपयोग करते हैं क्योंकि "टोल टैक्स" और "पेट्रोल पर टैक्स" उन सड़कों पर चलने वाले "ड्राइवर" ही देते हैं। मगर, इसके ठीक विपरीत, स्कूल, प्रतिगामी-करारोपण (regressive taxation) का एकदम पक्का तन्त्र है जहाँ विशेषकृपा-पात्र-स्नातक (priviledged graduate) समूची करदाता जनता की पीठ पर चढ़े हुए होते हैं। स्कूल, प्रमोशन पर दरव्यक्ति कर (head tax) लगाता है।

हाइवे-माइलेज (राजपथ पर प्रति मील पैट्रोल खर्च) की घटी-खपत महँगी होती है। लॉस एंजेलस का कोई व्यक्ति कि जिसके पास कार न हो उसका यहाँ-

वहाँ जाना-आना ठहर सकता है, लेकिन यदि वह अपने व्यवसाय के स्थल पर किसी-न-किसी तरह पहुँच सके तो वह अपनी नौकरी को बाँधे रख ही सकता है। लेकिन स्कूल के ड्राप-आउट के लिए कोई वैकल्पिक रास्ता नहीं है। एक उपनगर-निवासी अपनी नई लिंकोन गाड़ी पर, और उसका देहाती भाई अपनी जर्जर सेकिंड हैंड खड़खड़िया पर सवार होकर हाइवे का लगभग एक जैसा लाभ लेते हैं, यद्यपि एक की गाड़ी दूसरे की गाड़ी से तीस गुना ज्यादा कीमती है। लेकिन, एक आदमी के स्कूली-शिक्षण (Schooling) का मूल्य, उसने स्कूलों में कितने वर्ष पूरे किये हैं उसका प्रतिफलन तो है ही, यह इसका प्रतिफलन भी है कि उसने कितने महँगे स्कूलों में शिक्षा ग्रहण की। कानून किसी को भी ड्राइव करने (कार चलाने) के लिए बाध्य नहीं करता, जबकि वह हरेक को स्कूल जाने के लिए अनिवार्य बनाता है।

संस्थाओं को दाँये-बाँये धुरी में रख वहाँ उनकी स्थिति के आधार पर उनका विश्लेषण मेरे इस खयाल को स्पष्ट करता है, कि मूलभूत सामाजिक परिवर्तन, संस्थाओं के बाबत् चेतना में परिवर्तन से आरम्भ होना चाहिये, और कि इस तरह के विश्लेषण से यह समझाया जा सकता है कि किसी विकासक्षम भविष्य का आयाम क्यों संस्थायी तर्ज के पुनर्नवीकरण की ओर पलट जाता है।

वे सारी संस्थाएँ कि जो फ्रांसीसी क्रांति के ठीक पश्चात् आरम्भ हुई थीं : जेफरसन और अतातुर्क के युग में स्थापित स्कूल प्रणालियाँ और इनके साथ-साथ दूसरे महायुद्ध के पश्चात् शुरू हुई सारी संस्थाएँ : सातवें दशक (1960-70) में पुरानी पड़ने लगी थीं, वे सभी नौकरशाह, खुदगर्ज, और अटकलबाज हो गयी थीं। सामाजिक संरक्षण की प्रणाली, श्रम-संगठन, बड़े चर्च और राजनय, वृद्धाश्रय तथा श्मशान-व्यवस्था का भी यही हश्र हुआ।

आज, उदाहरणार्थ, कोलंबिया, ब्रिटेन, रूस और सं. रा. अमेरिका की स्कूल प्रणाली एक-दूसरे की बहुत ज्यादा हमशक्ल है जबकि 1890 के उत्तरार्द्ध के अमेरिकी स्कूल एक-दूसरे के अथवा उनके समकालीन रूसी-स्कूलों के उतने हम-शक्ल नहीं थे। आज सभी स्कूल अनिवार्य, अनंत (open-ended) और प्रतिस्पर्धा-त्मक हैं। संस्थायी शैली की ऐसी ही एक-रूपता स्वास्थ्य, व्यापार, प्रशासन और राजनीति पर भी असर डाली हुई है। ये सारी संस्थायी-प्रक्रियाएँ तस्वीर के अट-कली किनारे की ओर (यान दाँयी ओर) ही झुकती जाती हैं।

संस्थाओं की इसी एकरूपता का प्रतिफल विश्व-नौकरशाहियों का विलयन है। शैली, श्रेणीगत-प्रणालियाँ और सारा लवाजमा (पाठ्यपुस्तक से लगा कर

कम्प्यूटर तक) कोस्टारिका अथवा अफगानिस्तान के (या किसी भी विकासशील देश के) योजना-मण्डल के दिमाग पर पश्चिमी यूरोप के मॉडेल के अनुरूप ही मान्य मानक का रूप धरे हुए है।

सभी जगह ये नौकरशाहियां एक ही उद्यम में लगी रहती हैं: दांयी-ओर की संस्थाओं के विकास को बढ़ावा देते जाना। वे वस्तुओं को बनाने के, कर्मकाण्डी नियमों के गढ़ने के, और "कार्यकारी-सत्व" को ढालने-एवं-रूप आकार-देने के प्रति प्रचलित मूल्यों को स्थापित करने वाली विचारधारा या आदेश के प्रति चिंतित रहती हैं जो कि उनके उत्पाद (Product) से जोड़ा जा सके। टेक्नॉलाजी, इन नौकरशाहियों को समाज के दांये-पक्ष की ओर झुकी हुई शक्ति प्रदान करती है। समाज का वाम पक्ष बिखरता जाता है-इसलिए नहीं कि टेक्नॉलाजी मानवीय कर्म के क्षेत्र को विस्तार देने में, यानि कि वैयक्तिक कल्पना और निजी सर्जना को मचलने देने का समय देने में कम सक्षम है, किन्तु टेक्नालॉजी का ऐसा उपयोग उसका संचालन करने वाले किसी एलीट की शक्ति नहीं बढ़ाता। डाक प्रणाली के सच्चे स्वतंत्र मौलिक उपयोग पर पोस्टमास्टर का कोई नियंत्रण नहीं है, उसी प्रकार स्विच-बोर्ड ऑपरेटर या बेल-टेलीफोन कर्मचारी के पास कोई ताकत नहीं है कि उसी के द्वारा संचालित टेलीफोन-नेटवर्क-प्रणाली के जरिये यदि व्यभिचार, खून या दंगा-फसाद आयोजित हो रहा हो तो वह उन्हें रोक ले।

संस्थायी-दांयी-ओर तथा, संस्थायी-बांयी-ओर के दरम्यान पसन्दगी के चुनाव में मानवीय जीवन का मूल प्रकृत स्वभाव दांव पर है। मनुष्य को चुनना ही होगा कि वह वस्तुओं का भंडार करने में सम्पन्न बने अथवा कि उनका उपयोग करने में स्वतंत्र हो। उसे **"जीवन की वैकल्पिक शैलियों"** अथवा **"निरंतर उत्पादन प्रायोजनाओं"** (Related Production schedules) में से किसी एक को चुनना होगा।

एरिस्टॉटल ने खोज लिया था कि "सृजन" और "काम" ("making" and "acting") एकदम भिन्न हैं, सचमुच, इतने भिन्न, कि एक में दूसरा कभी भी शामिल नहीं किया जा सकता। "**क्योंकि न तो 'काम' ही 'सृजन' का कोई तरीका है-न ही 'सृजन' सच्चे काम का तरीका है। वास्तुशिल्प सृजन का एक**

तरीका है: किसी वस्तु को अस्तित्व में लाना कि जिसका उद्गम सर्जक में है, वस्तु में नहीं। 'सृजन' का अपने अतिरिक्त भी कोई उद्देश्य है। 'काम' का अलग-से कोई उद्देश्य नहीं है। क्योंकि अच्छा 'काम' स्वयं ही अपना उद्देश्य है। सृजन में परफेक्शन एक कला है, एक्टिंग में परफेक्शन एक सद्गुण है।" (Nicomachean Ethics, 1140)। सृजन (making) के लिए एरिस्टॉटल ने जो शब्द इस्तेमाल किया वह था "पोएसिस" ("poesis") और कर्म (doing) के लिए उसने "प्रेक्सिस" ("praxis") शब्द का इस्तेमाल किया। दांयी ओर बढ़ने का तात्पर्य है कि कोई संस्था इस तरह पुनिर्मित की जाती है कि उसकी "सृजन" करने की योग्यता बढ़े, जबकि उसका बांयी-ओर बढ़ने का तात्पर्य है कि उसकी पुनर्निमिति "कर्म" ('doing' or 'praxis') की ओर अग्रसर हो। आधुनिक टेक्नालॉजी ने आदमी की योग्यता को इस तरह बढ़ाया है कि वह वस्तुओं के "सृजन" (making) को मशीन के लिए छोड़ दे, अतएव "काम" (acting) के लिए उसके पास समर्थ समय प्रचुर हो गया। उसका समय जीवन की जरूरतों के "सृजन" ('making') में खर्च होने से बच गया। इस आधुनिकता का प्रतिफल है बेरोजगारी: किसी आदमी का यह आलस्य है कि उसको कुछ भी "सृजन" ('making') नहीं करना है और कि उसे पता ही नहीं कि वह क्या "करे" ('do')-याने कैसे "एक्ट" ('act') करे। बेरोजगारी उस मनुष्य का दुखद आलस्य है जो, एरिस्टॉटल की धारणा के विपरीत, यह मानता है कि वस्तुओं का सृजन करना, या काम करना सद्गुण है और आलस्य पाप है। बेरोजगारी उस आदमी का अनुभव है जो प्रोटेस्टेंट आचार (Protestant ethic) के आगे झुक गया है। वेबर के अनुसार, अवकाश (Leisure) की जरूरत आदमी को इसलिए है ताकि वह काम कर सके। एरिस्टॉटल के विचार से आदमी को काम जरूरी है ताकि उसे अवकाश मिल सके।

टेक्नालॉजी आदमी को स्वेच्छावान समय (discretionary time) प्रदान करती है जिसे वह या तो "सृजन" से भरे या "काम" से भरे। उदास बेरोजगारी अथवा मनमौजी अवकाश-अब इन दोनों में से किसी एक का चुनाव समूची संस्कृति के लिए चुना हुआ है। यह अब उस संस्थायी शैली पर निर्भर है जिसे संस्कृति को चुनना है। उस पुरातन संस्कृति में, जो या तो किसानी-काश्त-

कारी के आधार पर या गुलामी-प्रथा के आधार पर बसी हुई थी, उसमें यह विकल्प कल्पनातीत था, लेकिन उत्तर-औद्योगिक मनुष्य (Post industrial-man) के लिए यह अपरिहार्य हो गया है।

उपलब्ध समय को भरने का एक तरीका यह है कि वस्तुओं के उपभोग के लिए बढ़ती-हुई मांग को, और, साथ-ही साथ- साथ, सेवाओं के उत्पादन (Production of services) को उभारा जाये। पहली बात में ऐसा अर्थशास्त्र निहित है जो उन हर-हमेशा-नई वस्तुओं की हर-पल-बढ़ती शृंखला को उपलब्ध कराये, कि जो निर्मित की जा सके, उपभोग में लायी जा सके, नष्ट हो जाये, और पुनः उत्पादित की जा सके। दूसरी बात में नेक कृत्यों को "सेवा" संस्थाओं के उत्पादों में "सृजन" (make) करने का निरर्थक प्रयास निहित है। इसी से स्पष्टतः चीन्हा जा सकता है कि स्कूली-पढ़ाई और सच्ची शिक्षा में, कि मेडिकल सर्विस और सच्चे स्वास्थ्य में, कि प्रोग्राम-दर्शन और सच्चे मनोरंजन में, कि सनसनाती तेजी और सच्चे परिवहन में क्या फर्क है। आज, पहला विकल्प विकास के नाम से चीन्हा जाता है।

उपलब्ध समय को भरने का क्रांतिकारी विकल्प यह है कि ज्यादा टिकाऊ सामानों का सीमित संख्या में उत्पादन हो, और ऐसी संस्थाएं उपलब्ध हों कि जिनमें परस्पर-आनंदी-व्यवहार के अवसरों और आवश्यकताओं को बढ़ावा मिले।

टिकाऊ-सामान की अर्थ व्यवस्था, निश्चित ही उस अर्थ व्यवस्था के बिल्कुल विपरीत है कि जो आयोजित-अप्रचलन (Planned obsolescence) के आधार पर चल रही हो। टिकाऊ सामान की अर्थ-व्यवस्था का मतलब हुआ सामान के बेतुके विस्तार-गुण पर बंदिश। सामान को ऐसा होना ही चाहिये कि उसे अधिकतम सुविधानुसार "बापरा" जा सके : जैसे कि उसे अपने-आप ही आसानी से असेंबल किया जा सके, स्वंय ही चलाया जा सके, पुनः पुनः काम में लाया जा सके और उसकी मरम्मत की जा सके।

सामान के टिकाऊ, मरम्मत-योग्य, और पुनः पुनः उपयोगी गुण का पूरक

संस्थायी तरीके से उत्पादित सेवाओं को बढ़ाने में नहीं है, बल्कि कदाचित् उस संस्थायी ढांचे में है कि जो लगातार कर्म, भागीदारी और आत्मनिर्भरता की शिक्षा दे। यह बात कि हमारे समाज के वर्तमान (कि जिसमें सारी संस्थाएँ उत्तर-औद्योगिक नौकरशाही की ओर खिंचती हैं) का उस उत्तर-औद्योगिक आनंद प्रदान की ओर बढ़ना-कि जिसमें उत्पादन के ऊपर "कर्म" ('action') की तीव्रता हावी हो -यह बात सेवा-संस्थाओं के नवीकरण से प्रारंभ होना चाहिये और सर्वप्रथम शिक्षा के नवीकरण से। ऐसा भविष्य कि जो वांछित और संगत हो वह हमारी टेक्नालॉजीकल-जानकारी (Technological Know how) को आनंद-प्रदायक संस्थाओं के विकास में लगाने की रजामन्दी पर निर्भर करता है। शिक्षायी-खोज के क्षेत्र में इसका मतलब हुआ, कि वर्तमान रूढ़ों को पलटने की मांग की जाये।

5

विवेकहीन सामंजस्य

मुझे लगता है कि शिक्षा के समसामयिक संकट से निपटने के लिए हमें जनसाधारण हेतु-निर्धारित ज्ञान-शिक्षण (Publicly prescribed learning) के मूल विचार की ही तहकीकात करना होगी— बजाय कि हम उसे लागू करने के तरीके की समीक्षा करें। ड्रापआउट दर [—खासकर जूनियर हाईस्कूल छात्रों और एलीमेंटरी स्कूल शिक्षकों की—] इस बात की सूचक है कि एकदम बिलकुल नया नजरिया बनाने के लिए किसी मूलभूत माँग को उभारा जाये। "कक्षा अध्यापक" ('Classroom Practioner'), कि जो अपने को एक मुक्त शिक्षक समझता आया है, उस पर चारों ओर से आक्रमण उठता जा रहा है। मुक्त पाठशाला आन्दोलन (Free-School movement) ने, अनुशासन को उपदेश-कर्म (Indoctrination) में गड़बड़ाते हुए, कक्षा-अध्यापक को एक विध्वंसक तानाशाह के रूप में रंग दिया है। सदाचरण को नापने और सुधारने में शिक्षक की हीन-भावना का अन्टन प्रदर्शन एजुकेशनल-टेकनोलाजिस्ट में मिलता है और स्कूल-प्रशासन कि जिसके लिए वह काम करता है, वह उसे समरहिल (Summerhill) और स्किनर (Skinner) के आगे ही घुटने टिकवाता है ताकि यह स्पष्टतः पता चले कि अनिवार्य शिक्षा-ग्रहण कोई मुक्त उद्यम नहीं है। कोई अचंभा नहीं कि शिक्षकों को नौकरी छोड़ देने की दर, छात्रों की पढ़ाई छोड़ देने की दर से भी ज्यादा बढ़ी होती जा रही है :

अपने किशोरों के लिए अनिवार्य शिक्षा की अमेरिकी प्रतिबद्धता अब उसकी निरर्थकता को उसी प्रकार से उद्घाटित करती है जैसे वियतनाम के लिए अनिवार्य प्रजातांत्रिकता की अमेरिकन प्रतिबद्धता है। रूढ़िगत स्कूल, स्पष्टतः, उसे कर नहीं सकते। मुक्त-पाठशाला आन्दोलन (Free School Movement) रूढ़िगत शिक्षाचारों को लुभाता है, लेकिन अन्ततः स्कूली-शिक्षण की रूढ़िगत विचारधारा के लिए ही वैसा करता है। और, एजुकेशनल टेकनालाजिस्टों का दावा, कि उनकी खोज और उन्नति—पर्याप्त बजट मिलने पर—अनिवार्य शिक्षाग्रहण के किशोरों के

प्रतिरोध के लिए किसी-न-किसी तरह का अन्तिम हल प्रस्तुत कर सकती है, ठीक वैसा ही दृढ़ लगता है और उतना ही मूर्खतापूर्ण सिद्ध होता है कि जैसा मिलिट्री-टेकनालाजिस्टों द्वारा गढ़ा हुआ उसी तरह का दावा जो उनके अपने कार्यों की "सफलता" दर्शाने के लिए किया जाता है।

परंपरागत शिक्षाविदों द्वारा अमेरिकन स्कूल सिस्टम की आलोचना, और, नई पीढ़ी के क्रांतिकारी शिक्षाकारों द्वारा की जा रही आलोचना—ये दोनों आलोचनाएँ एक-दूसरे की प्रखर विरोधी दिखाई पड़ती हैं। परंपरागत शिक्षाविद शिक्षायी खोज को "वैयक्तिक-शिक्षण-पैकेजेस (Individualised learning packages) के द्वारा आत्मनिश्चयात्मक शिक्षण (Autotelia instruction) देने" पर लागू करता है। उनकी दीली किशोरों के गैर-सूचक निर्वाचन (Non-directive co-option) के साथ उन मुक्त कम्यूनों में फूटती है जो वयस्कों की निगरानी में स्थापित हुए हैं। तथापि ऐतिहासिक फलक पर, ये दोनों, पब्लिक-स्कूल सिस्टम की ही परस्पर विपरीत दिखाई देने वाली लेकिन वास्तव में पूरक वर्द्धकों की समसामयिक अभिव्यक्तियाँ ही हैं। इस शताब्दी के प्रारम्भ से ही स्कूल एक ओर तो "सामाजिक नियंत्रण" के और, दूसरी ओर "मुक्त सहकार" के समर्थक रहे हैं—दोनों ही बातें उस "अच्छे समाज" की सेवा में प्रस्तुत हैं जो अत्यन्त संगठित और निर्बाध चलने वाली संघबद्ध संरचना के रूप में कल्पित है। सघन नगरीकरण के प्रभाव से बच्चे ऐसे प्राकृतिक स्रोत बन गये कि जिन्हें स्कूल के द्वारा डालकर औद्योगिक मशीन में खपा दिया जाये। प्रगतिवादी राजनीति और कार्यकौशल की चारित्रिक-विशेषता का संगम संयुक्त राज्य अमेरिका के पब्लिक स्कूल में रूपांतरित हुआ। वोकेशनल गाइडेंस और जूनियर हाईस्कूल उक्त सोच-विचार के दो महत्त्वपूर्ण प्रतिफल हैं।

अतः, लगता है कि ऐसे विशिष्ट व्यावहारिक परिवर्तनों को उपजाने के प्रयास जो नापे जा सकते हों और जिनके लिए प्रवर्तक उत्तरदायी ठहराया जा सके—यह बात का एक पक्ष है, और दूसरा पहलू विशेषकर तराशे गये ऐसे पैरों में नई पीढ़ी को ठंडा करना है जो उन्हें बड़ों के स्वप्न-संसार में शामिल कर दे। समाज के ये ठंडा-दिये-गये जन, डेवी के द्वारा नाप तौल कर परिभाषित किये गये हैं, जो चाहता है कि हम "हमारे प्रत्येक स्कूल को एक भ्रूणावस्था-सामुदायिक जिंदगी का रूप दें जो जीवन-कारोबारों के ऐसे प्रकारों से सक्रिय हो कि वह वृहत समाज के जीवन को प्रतिबिंबित करे, और उसे कला, इतिहास तथा विज्ञान की 'प्राणशक्ति' से 'लिप्त' करे। इस ऐतिहासिक परिदृश्य में, उस वर्तमान तिकोने विवाद को किसी शिक्षायी क्रांति की भूमिका मान लेना भयंकर गलत होगा जो स्कूल-प्रतिष्ठान और एजुकेशनल टेकनालाजिस्टों और मुक्त-पाठशालाओं के दरम्यान जारी है। इस विवाद का मतलब, कदाचित, किसी पुराने स्वप्न को यथार्थ रूप में उभार देने से

किसी प्रवास का एक कदम है, और अन्ततः समूची बहुमूल्य ज्ञान-प्राप्ति को प्रोफेशनल-शिक्षण का परिणाम बना देना है। सुझाये गये अधिकांश शिक्षायी विकल्प उन लक्षों पर एकत्र होते हैं जो ऐसे सहकारी मनुष्य (Cooperative Man) का उत्पादन करने में अन्तर्निहित है कि जिसकी वैयक्तिक जरूरतें इस अमेरिकन प्रणाली में अपनी विशेषज्ञता हासिल करने से पूरी होती है। अतः वे सुझाव स्कूलीकृत समाज (the Schooled Society) (यह संज्ञा किसी बेहतर मुहावरे के अभाव में दी गयी है) के सुधार की ओर उन्मुख हैं। यहाँ तक कि स्कूल-प्रणाली के प्रतीयमान क्रांतिकारी आलोचक भी इस विचार से चिपके हुए हैं कि किशोरों के प्रति, खासकर गरीबों के प्रति, उनका दायित्व है, कि उन्हें लाइन पर लगायें, चाहे डरा धमकाकर चाहे प्यार से, किसी ऐसे समाज में डालने की ओर कि जिसे—अपने उत्पादकों से भी और अपने उपभोक्ता से भी—एक-सी अनुशासित विशेषज्ञता की जरूरत है, और वे उस विचारधारा के प्रति अपनी पूरी प्रतिबद्धता को भी त्यागने को राजी नहीं है जो आर्थिक विकास को ही सर्वोपरि मानती है।

स्कूल के बाबत मतभेद इन अन्तरविरोधों को ढँक देता है जो "स्कूल" की ही मूलभूत अवधारणा में अन्तर्निहित है। स्थापित शिक्षक-संगठन, और, टेकनालाजिकल-तांत्रिक, और, शिक्षायी मुक्ति आन्दोलन-तीनों ही किसी स्कूलीकृत-संसार की मौलिक स्वयंसिद्धियों के प्रति ही समूचे समाज की प्रतिबद्धता को प्रकल्पित करते हैं, कुछ-कुछ उसी प्रकार से जिस प्रकार अनेक शांति एवं विरोधी आन्दोलन (peace and protest movements) उनके सदस्यों (चाहे वे काले हों, नारी हों, किशोर हों, या गरीब हों) की उन प्रतिबद्धताओं को प्रकल्पित करते हैं जो सकल राष्ट्रीय आमदनी के विकास के द्वारा ही न्याय तलाश करते हैं।

कुछ सिद्धियाँ कि जो अब एकदम निर्विरोध मान ली गई है वे आसानी से गिनायी जा सकती हैं। जैसे, यह सर्वमान्य हो गया है कि शिक्षा जो किसी पंडित की निगरानी में अख्तियार की गई हो वह छात्र के लिए विशेष महत्व की है और समाज के लिए विशेषकर लाभप्रद है। यह इस अवधारणा से संबद्ध है कि सामाजिक आदमी कैशोर्य में सिर्फ "उत्पन्न" होता है, और "यथोचित उत्पन्न" तभी होता है कि जब वह स्कूली-कोख में विकसित हो, कि जिसे कुछ लोग खुली छूट (permissiveness) के द्वारा ढालना चाहते हैं, तो कुछ लोग किन्हीं "युक्तियों" (gadgets) से भरना चाहते हैं, तो कुछ ऐसे लोग भी हैं जो किसी उदार परंपरा से माँजना चाहते हैं। सर्वोपरि, युवजन भी, जो मनोवैज्ञानिक रूप से रोमैंटिक

और राजनीतिक तल पर अनुदार हैं, वे भी उक्त बात से सहमत हैं। इस विचार के अनुसार, समाज में परिवर्तन को युवजन पर समाज के रूपांतरण का भार डालकर लाया जाना चाहिये—मगर स्कूल से अपनी अन्तिम पढ़ाई खत्म करने के पश्चात ही। ऐसी सिद्धियों पर आधारित किसी समाज के लिए यह आसान है कि वह नई पीढ़ी की शिक्षा के लिए उसके उत्तरदायित्व की कोई समझ निर्मित करे, और इसका यही तो अर्थ हुआ कि कुछ लोग अन्य लोगों के वैयक्तिक लक्ष्यों को निर्धारित करें, निर्दिष्ट करें, और मूल्यांकित करें। "पैसेज फ्राम एन इमेजिनरी चाइनीज इनसाइक्लोपीडिया" ("Passage from an imaginery Chinese encyclopedia") नामक रचना के एक परिच्छेद में जॉर्ज लुई बोर्खेस, इस तरह के प्रयास के द्वारा उत्पन्न मिचलाहट (Giddiness) के मनोभाव को प्रस्तुत करता है। वह बतलाता है कि पशुओं को निम्नांकित वर्गों में बाँटा जा सकता है : "(1) जो शहँशाह के कुल के हैं (2) वे जो स्मारक बन गये हैं (3) वे जो पालतू बन गये हैं (4) वे जो दुधमुँहे सूअर के बच्चे हैं (5) वे जो जल-परियाँ हैं (6) वे जो काल्पनिक हैं (7) वे जो भटकते श्वान हैं (8) वे जो वर्तमान वर्गीकरण में सम्मिलित हैं (9) वे जो झुमकर सनक गये हैं (10) वे जो असंख्य हैं (11) वे जो कैमल हेयर के महीन ब्रश से चितेरे गये हैं (12) वे जो आदि आदि हैं (13) वे कि जिन्होंने अभी अभी गिलास तोड़ा है (14) वे जो दूर से ही मक्खियों के समान हैं।" तो, इस तरह का वर्गीकरण (Taxonomy) तब तक अस्तित्व में नहीं आता जब तक कोई महसूस नहीं करे कि उससे उसका मकसद हल होता है : इस केस में, मैं समझता हूँ, कि कोई एक टैक्स-कलेक्टर (Tax Collector) है। कम-से-कम उसके लिए तो पशुओं के इस वर्गीकरण (Taxonomy) का कोई अर्थ होगा ही, ठीक उसी तरह जैसे वैज्ञानिक लेखकों के लिए उद्देश्यों का वर्गीकरण कोई अर्थ रखता है।

किसान के दिमाग पर, मनुष्यों की ऐसी अभेद्य तर्कणात्मकयुक्त छवि—कि वे उसके पशुओं की जाँच करने की शक्ति रखते हैं—ने नपुंसकत्व को ठिठुरा देने वाला प्रभाव डाला होगा। तदनुरूप कारणों से ही, छात्र जब किसी पाठ्यक्रम को समर्पित होते हैं तब वे चित्तविक्षेपी महसूस करने लगते हैं। जाहिर है कि वे मेरे उपर्युक्त काल्पनिक-चीनी-किसान से भी ज्यादा सहमे हुए होते हैं, क्योंकि

उनका बदन ही नहीं बल्कि उनके जीवन-लक्ष्य किसी अमिट निशान से चिन्हित किये जाते हुए होते हैं।

बोर्खेस का कथन चमत्कारी है क्योंकि वह तर्कहीन संगति (Irrational consistency)—जो काफ्का और कोएस्टलर की नौकरशाहियों को अत्यन्त कुटिल, यद्यपि दैनंदिन जीवन को उभारने वाली, बनाती है—के तर्क को उकसाता है। तर्कहीन संगति उन-सहअपराधियों को चमत्कृत करती है जो परस्पर युक्ति-संगत और व्यवस्थित शोषण में लगे हैं। यह नौकरशाह-आचरण द्वारा जनित सांत्वना है। और, यही, एक ऐसे समाज का सांत्वना बनता है जो मांग करता है कि उसकी शैक्षिक संस्थाओं के मैनेजरों को उनके मुवक्किलों में व्यावहारी-सुधारों (Behavioural modifications) को पैदा करने के लिये जिम्मेदार माना जाये। वे छात्र जो उन शिक्षायी पैकेजों की इज्जत करने के लिए प्रोत्साहित किये जा सकते हैं कि जिनकी सप्लाई के लिए उन्हें उनके शिक्षक बाध्य करते हैं,-वे छात्र-चाइनीज किसानों के समान ही हैं जो अपने पशु-समूहों को बोर्खेस द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण में फिट कर सकते हैं।

पिछली दो पीढ़ियों के दौरान, किसी काल में, अमेरिकन संस्कृति में चिकित्सा (Therapy) के प्रति प्रतिबद्धता छायी हुई थी, और शिक्षक ऐसे चिकित्सक माने जाने लगे वे जिनकी सेवाओं की सभी लोगों को जरूरत थी यदि वे उस बराबरी और आजादी को भोगना चाहें जिसमें, संविधान के अनुसार, वे पैदा हुए हैं। अब समाज के उपचारी-शिक्षकों (Teacher therapists) ने जीवन-पर्यन्त-शिक्षायी-चिकित्सा को अगले कदम के रूप में प्रस्तुत किया है। इस उपचार की "स्टाईल" पर बहस जारी है : क्या इसे वयस्कों की लगातार उप-स्थिति वाली कक्षा का रूप लेना है ? इलेक्ट्रानिक तन्मयता की शक्ल अख्तियार कर लेना होगा ? या, समय-समय पर संवेदनशीलता के सत्र (Sensitivity Sessions) हों ? सारे शिक्षाकार क्लासरूम की दीवालों को तोड़ने की सामिल में शामिल होने को राजी हैं जो कि समूची संस्कृति को किसी स्कूल में रूपांतरित करने के उद्देश्य के साथ गूंथी हुई है।

शिक्षा के भविष्य बाबत अमेरिकन विवाद, उसके पूरे शृंगार, तामझाम, और जोरशोर के बावजूद, सार्वजनिक नीति (Public policy) के अन्य क्षेत्रों में

चल रही चर्चा की अपेक्षा, ज्यादा ही रूढ़िवादी है। कम-से-कम, विदेशी मसलों पर, एक समझदार संगठित छोटा-सा समुदाय ऐसा है जो हमें लगातार याद दिलाता रहता है कि सं रा. अमेरिका को संसार का पुलिसमेन बनने की अपनी भूमिका त्याग देना चाहिये। क्रांतिकारी अर्थशास्त्रीगण (और अब तो खैर उनके साधारण क्रांतिकारी शिक्षक भी) सकल प्रगति (Aggregate growth) को किसी वांछित लक्ष्य के रूप में मानने पर आशंका व्यक्त करने लगे हैं। ऐसे भी मतवादी हैं जो दवा के बजाय परहेज पर जोर देने की मांग करने लगे हैं और, परिवहन के क्षेत्र में तीव्रगति-मान्यता की अपेक्षा सहज-बहाव को तरजीह देते हैं। सिर्फ शिक्षा के क्षेत्र में ही स्कूल के क्रांतिकारी निष्कासन की मांग करने वाली स्पष्टवादी आवाजें बुरी तरह से बिखरी हुई हैं। दिल छूते हुए उस किसी तर्क की कहीं कमी है, और, वह गुरु गंभीर प्रौढ़ नेतृत्व नजर नहीं आ रहा है जो हर तरह की उन सभी संस्थाओं, जो अनिवार्य "शिक्षा" की सेवा में लगी हुई हैं, उन्हें भंग करने का लक्ष्य साधा हुआ हो। एक क्षण रुकें, सोचें, कि समाज से स्कूल का क्रांतिकारी निष्कासन आज भी एक ऐसा वाद है कि जिसका कोई दल नहीं। यह विशेषकर ज्यादा ही विचित्र बात इसलिए है क्योंकि आज सभी प्रकार के संस्था-आयोजित शिक्षण (Institutionally planned instruction) के विरुद्ध बारह से सत्रह वर्ष की आयु वाले छात्रों में, गोकि अस्त-व्यस्त रूप में ही, बढ़ता हुआ प्रतिरोध मौजूद है।

शिक्षायी-नवाकार अभी भी ऐसा मानते हैं कि शिक्षायी संस्थाएँ उनके द्वारा पैकेज किये गये प्रोग्रामों के लिए फनल्स (कुप्पियों) की तरह काम करती हैं। मेरे तर्क के लिए इस बात का कोई महत्व नहीं है कि ये कुप्पियां किसी क्लासरूम के आकार की हैं, या किसी टी. वी. ट्रांसमीटर का रूप धारे हैं, अथवा, एक "मुक्त क्षेत्र" का जामा पहने हैं। और, यह भी उतना ही निरर्थक है कि संग्रहीत पैकेज कीमती है या सस्ता, गर्मागर्म या ठंडागार मख्ख और नपातुला [जैसे गणित-3 (Maths III)] या मूल्यांकन के लिए असंभव [जैसे संवेदन-शीलता (Sensitivity)]। मुद्दे की बात तो यही है कि शिक्षा शिक्षाकार के द्वारा व्यवस्थित संस्थायी प्रक्रिया का प्रतिफल मानी गई है। जब तक वे संबंध "सप्लायर और कंज्यूमर ("माल बेचने वाला और माल का उपभोक्ता") के बीच के सम्बन्ध के रूप में कायम हैं, तब तक शिक्षायी खोज वृत्तीय प्रक्रिया बनी

रहेगी। वह उन शिक्षार्थी-पैकेजेस की ज्यादा बड़ी जरूरत के समर्थन के लिए एक जबर्दस्त वैज्ञानिक प्रमाण एकत्र कर लेगी ताकि वैयक्तिक उपभोक्ता को ज्यादा-भयानक-परिशुद्ध डिलीवरी (More deadly accurate delivery) दी जा सके, बिल्कुल वैसे ही कि जैसे सामाजिक विज्ञान का कोई खास ब्रैंड ज्यादा बड़े फौजी-इलाज की डिलीवरी की जरूरत को सिद्ध कर सकता है।

शैक्षिक-क्रांति **दोहरे व्युत्क्रम,** यानि किसी उभरती हुई विरोधी-संस्कृति की शिक्षा-पद्धति के बाबत नया स्थिति-ज्ञान (New orientation) और उस पद्धति की नयी समझ, पर निर्भर है।

व्यवहार-विषयक अनुसंधान अब किसी ऐसे पैतृक ढाँचे की दक्षता को आलाशान बनाने की पहल करता है—ऐसे ढाँचे की जिस पर कभी भी उंगली उठाई नहीं जाती। इस ढाँचे में, शिक्षार्थी-पैकेजेस के लिए किसी कुप्पी-वृत्ति की व्यवस्थित संरचना है। इसका स्वव्यवस्थित-विकल्प होगा—प्रत्येक छात्र के निजी नियंत्रण में स्रोतों की स्वायत्त जमावट के लिए एक शिक्षार्थी ताना-बाना या शिक्षार्थी-जाल। एक शैक्षणिक संस्था की यह वैकल्पिक संरचना, अब, अपने व्यवहार-विषयक अनुसंधान के अवधारणात्मक अंधबिंदु के भीतर बसी है। यदि अनुसंधान उस पर फोकस करे, तो एक सच्ची वैज्ञानिक क्रांति का गठन होगा।

शैक्षणिक अनुसंधान का अंधबिंदु उस समाज के सांस्कृतिक पूर्वग्रह को प्रतिबिंबित करता है जिसमें टेक्नालाजिकल-विकास को टेक्नोक्रेटिक-कंट्रोल में भरमा दिया गया है। टेक्नोक्रेट के लिए किसी पर्यावरण का मूल्य जैसे-जैसे बढ़ता जाता है कि जैसे-जैसे प्रत्येक आदमी और उसके परवेशी-संसार के दरम्यान ज्यादा-से-ज्यादा सम्बन्धों को प्रायोजित किया जा सके। इस संसार में, वे विकल्प जो निरीक्षक अथवा आयोजक के द्वारा व्यवस्थित हो सकें, वे ही, सिर्फ उन्हीं विकल्पों के साथ मेल खाते हैं जो अधि-परखे तथाकथित लाभानुभोगी के लिए सम्भव हैं। स्वतन्त्रता पैकेज-पदार्थों (Packaged commodities) के दरम्यान ही चुनाव करने तक संकुचित कर दी गई है।

उभरती हुई विरोधी-संस्कृति, किसी स्थूल और बेलोच शाब्दिक-संयोजना की योग्यता की अपेक्षा, अर्थवान विषयवस्तु के मूल्यों को पुनः प्रतिष्ठित करती

है। वह संपत्ति के उत्पादन के लिए अर्थबोध की पूँजी को शब्द-योजना की शक्ति से ज्यादा मानती है। वह मनपसन्द वैयक्तिक मुठभेड़ के अ-पूर्वानुमेय नतीजे को, व्यावसायिक शिक्षण (Professional instruction) की प्रमाणपत्रित क्वालिटी से ज्यादा मान देती है। संस्था-गढ़े मूल्यों की अपेक्षा वैयक्तिक अजूबे की ओर अभिमुख वह शिक्षाज्ञान स्थापित व्यवस्था को वैसे वैसे ध्वस्त करता जायेगा—कि जैसे जैसे टेक्नालाजिकल यंत्रों की बढ़ती हुई सुलभता जो कि मुठभेड़ को सुगम करती है, वह टेक्नोक्रेट के बढ़ते हुए नियंत्रण, जो कि जब लोग मिलते हैं तो जो होता है उस पर कसा हुआ है, से असंबद्ध हो जाये।

हमारी आज की शिक्षा संस्थाएँ सिर्फ शिक्षक की लक्ष्य पूर्तियों की सेवा में है। हमारी जरूरत के परस्पर सम्बन्धी-ढाँचे वे हैं जो प्रत्येक आदमी को ऐसा सुयोग्य बनायेंगे कि वह अपने स्वयं को-ज्ञानप्राप्ति के द्वारा और अन्यों की ज्ञान-प्राप्ति में सहयोग देकर-परिभाषित करेगा।

6

ज्ञानप्राप्ति के ताने-बाने

पिछले किसी अध्याय में मैंने स्कूलों के बावत् उठती हुई आशंका पर चर्चा की है, जैसी कि, उदाहरणार्थ, कार्नेगी कमीशन की हाल ही प्रकाशित रिपोर्ट में उभरी है : स्कूल में दाखिल विद्यार्थी प्रमाणित शिक्षकों के आगे इस-लिये समर्पित होते हैं ताकि वे अपने प्रमाण-पत्रों को हासिल कर सकें, दोनों ही कुंठित हैं और दोनों ही अपनी परस्पर कुंठाओं के लिए अपर्याप्त संसाधनों (धन, समय, भवन) की शिकायत करते हैं।

ऐसी आलोचना कई लोगों के मन में ऐसे सवाल को जन्म देती है कि क्या ज्ञानप्राप्ति की किसी भिन्न शैली पर विचार करना होगा। यह कितना बड़ा विरोधाभास है कि जब लोगों से जोर देकर साफ-साफ पूछा जाता है कि जो भी जानकारी उनके पास है और जिसे वे जीवनमूल्य मानते हैं वह सब उन्होंने कैसे पाया तो वे एकदम मान लेते हैं कि वह उन्होंने अकसर ही स्कूल के बाहर ही सीखा, भीतर नहीं, तथ्यों बावत् उनका ज्ञान, तथा जीवन और कर्म बावत् उनकी समझ उस दोस्ती और प्यार से उनके जेहन में उतरी जो उन्होंने टीवी देखकर, या पुस्तकों को पढ़कर, बड़ों के दृष्टांतों से, अथवा किसी राह-चलती मुठभेड़ की चुनौती से हासिल की। या फिर, उनकी ज्ञानप्राप्ति किसी गली-मुहल्ले की टोली में दाखिल होने की नव-सिखुवाई क्रियाविधि के जरिये, अथवा किसी अस्पताल, नगर-पुस्तकालय, मोची-दुकान या इंश्योरेंस आफिस में जाने के उपक्रम के द्वारा संपन्न हुई। स्कूल का विकल्प किसी नई युक्ति के लिए सार्वजनिक स्रोतों का उपयोग नहीं है जो लोगों को ज्ञानप्राप्ति के लिए तैयार करें; बल्कि वह मनुष्य और उसके परिवेश के दरम्यान शिक्षायी संबंध की किसी नई शैली की दृष्टि है। इस शैली को प्रोत्साहित करने के लिए हमें "बड़े होने" के प्रति अपने

रवैये को, ज्ञानप्राप्ति के आज उपलब्ध औजारों को, तथा दैनंदिन जीवन की क्वालिटी एवं संरचना को एक साथ बदलना होगा।

रवैये तो बदल रहे हैं। स्कूल पर गर्वीली निर्भरता खत्म हो गई है। ज्ञान-की-फैक्ट्री में उपभोक्ता-प्रतिरोध बढ़ा है। अनेक शिक्षक और छात्र, कर-दाता और उद्योगपति, अर्थशास्त्री और पुलिसमैन अब स्कूलों पर निर्भर रहना नहीं चाहते। नई संस्थाओं को गढ़ने के प्रति उनकी हताशा को थामे हुए सिर्फ उनकी कल्पनाशीलता की खामी ही नहीं बल्कि उपयुक्त भाषा की खामी भी है और आमूल स्व-हित की खामी भी है। वे किसी स्कूल-रहित समाज की, अथवा किसी स्कूल विस्थापित समाज में शिक्षायी संस्थाओं के रूप-रंग की परि-कल्पना नहीं कर पा रहे हैं।

इस अध्याय में मैं यह बतलाना चाहता हूं कि स्कूल का प्रतिलोम संभव है : कि शिक्षकों को (कि जो छात्रों को समय-निकलाने के लिए और ज्ञानप्राप्ति की खलक भरने के लिए या तो उन्हें ललचाते हैं या धमकाते हैं) नियुक्त करने के बजाय हम स्व-प्रेरित ज्ञानप्राप्ति पर निर्भर रह सकते हैं, कि शिक्षक के द्वारा सारे शिक्षायी प्रोग्रामों को छात्र के गले-उतारना जारी रखने की अपेक्षा हम विद्यार्थी को संसार के साथ नये सम्बन्ध प्रदान करा सकते हैं। मैं कुछ सामान्य लक्षणों की चर्चा करूंगा जो स्कूली-शिक्षण और ज्ञानप्राप्ति के बीच भेद खोलते हैं, साथ ही, शिक्षायी संस्थाओं के चार प्रमुख वर्गों की रूप रेखा प्रस्तुत करूंगा जो न सिर्फ अनेक व्यक्तियों को बल्कि सम्बन्धित समूहों को भी रचेगी।

एक आपत्ति : अंधे पुलों के द्वारा किनकी सेवा की जाती है ?

हम स्कूलों को राजनीतिक और आर्थिक रुचि पर निर्भर कोई परिवर्ती (Variable) मानने के अभ्यस्त हो गये हैं। हम कल्पना करते हैं कि राजनीतिक शैली बदलने पर, या किसी विशेष वर्ग के सरोकार को बढ़ावा देने पर, या उत्पादन के ऊपर निजी के बजाय सार्वजनिक नियंत्रण हो जाने पर स्कूल-प्रणाली भी बदल जायेगी। मेरे द्वारा परिकल्पित शिक्षायी संस्थाएं, बहरहाल, किसी ऐसे समाज की सेवा के लिए हैं जो आज अस्तित्व में नहीं है, यद्यपि स्कूलों के प्रति वर्तमान हताशा अपने आप में ही संभावना से भरी इतनी बड़ी ताकत है जो

चाहे तो नई सामाजिक व्यवस्था की ओर परिवर्तन को गतिमान कर दे। इस पक्ष के विरुद्ध प्रकट आपत्ति यह है कि : सर्वप्रथम राजनीतिक और आर्थिक प्रणाली को बदलने में, न कि स्कूलों को बदलने में, ताकत लगायी जावे, गंतव्यहीन पुलों के निर्माण में उसे क्यों खपाया जावे ?

तथापि, यह आपत्ति ही, स्वयं स्कूल-प्रणाली की मूलभूत राजनीतिक और आर्थिक प्रकृति को, तथा साथ-ही-साथ उसका सामना करने वाली किसी प्रभावशाली चुनौती में अन्तर्निहित राजनीतिक संभाव्यता को कम आँकती है।

मौलिक रूप से, स्कूल, किसी सरकार अथवा मार्केट-आर्गेनाइजेशन के द्वारा घोषित विचारधारा पर निर्भर रहना त्याग चुके हैं। अन्य मौलिक संस्थाएँ : दल, चर्च, या प्रेस : एक से दूसरे देश में भिन्न हो सकती हैं। मगर, हर जगह स्कूल प्रणाली का वही ढाँचा है, और, हर जगह उसके प्रच्छन्न पाठ्यक्रम का एक-सा असर है। बिलकुल ही, वह उपभोक्ता को इस तरह ढालता है ताकि वह संस्थायी उत्पादनों को किसी अव्यावसायिक पड़ोसी की सेवा की अपेक्षा ज्यादा मान दे।

हर जगह, स्कूलिंग का प्रच्छन्न पाठ्यक्रम नागरिक को इस मिथ से दीक्षित कराता है कि वैज्ञानिक ज्ञान से निर्दिष्ट नौकरशाहियाँ कुशल और उप-कारी होती हैं। हर जगह, यह प्रच्छन्न पाठ्यक्रम छात्र के चित्त में यह मिथ बिठाता है कि बढ़ता हुआ उत्पादन एक बेहतर जिंदगी उपलब्ध करेगा। और हर जगह वह सेवाओं (शिक्षा, स्वास्थ्य आदि) की ओर अ-लगाव उत्पादन (Ali-enating Production) के आत्म-पराजित उपभोग की आदत को, संस्थायी निर्भरता के प्रति झुकाव को, और, संस्थायी श्रेणियों की मान्यता को विकसित करता है। स्कूल का प्रच्छन्न पाठ्यक्रम यह सब करता ही है–शिक्षकों के विपरीत प्रयासों के बावजूद, और किसी भी विचारधारा के चलन के अन्तर्गत।

दूसरे शब्दों में सारे देशों में, स्कूल मौलिक रूप से एक-तरीके हैं—चाहे वे देश फासिस्ट, या डेमोक्रेटिक, या सोशलिस्ट हों, छोटे या बड़े, धनी या गरीब हों। स्कूल-प्रणाली की यह एकरूपता हमें बाध्य करती है कि हम मिथ की, उत्पादन-विधि की, और सामाजिक नियंत्रण के तरीके की विश्वव्यापी भव्य

एकरूपता को मानें—पुराणों की महान् विविधताओं के बावजूद कि जिनमें मिथ को अपनी अभिव्यक्ति मिलती है।

इस एकरूपता को देखते हुए, यह दावा भ्रामक होगा कि स्कूल, किसी भी गहरे अर्थ में, पराश्रित परिवर्ती (Dependent Variables) हैं। इसका मतलब हुआ कि प्रचलित अवधारणाओं पर आधारित सामाजिक अथवा आर्थिक परिवर्तन के प्रभावस्वरूप स्कूल-प्रणाली में किसी मौलिक परिवर्तन की उम्मीद रखना भ्रामक है। इसके अतिरिक्त, यह भ्रम स्कूल को, यानि किसी उपभोक्ता समाज की जननेन्द्रिय को एकदम निरंकुश निरापद स्थिति प्रदान करता है।

इस बिन्दु पर चीन का दृष्टांत महत्वपूर्ण है। तीन सहस्त्राब्दियों तक, चीन ने ज्ञान-सीख की प्रक्रिया और मन्दारिन परीक्षाओं द्वारा प्रदत्त विशेषाधिकार के बीच पूरा अलगाव करके उच्चस्तरीय-ज्ञानप्राप्ति को तरजीह दी थी। विश्व-शक्ति बनने के लिए, और एक आधुनिक राष्ट्र-राज्य बनने के लिए चीन को स्कूल-प्रणाली की अन्तर्राष्ट्रीय शैली अपनानी पड़ी। तीसरी नजर ही हमें यह बता सकती है कि समाज का संस्थाओं से विमुक्तिकरण का पहला सफल प्रयास "महान सांस्कृतिक क्रांति" हो सकती थी।

किसी भी ऐसी नई शिक्षायी एजेन्सियों की आंशिक सृष्टि भी जो स्कूल का विलोम हों, वे, सारे देशों में राज्यों के द्वारा संचालित विस्तृत क्रम की इस अत्यन्त नखरीली शृंखला पर एक चोट हो सकती है। एक ऐसा राजनीतिक कार्यक्रम जो स्कूल-भंग की जरूरत को स्पष्ट मान्यता नहीं देता हो वह क्रांति-कारी नहीं है; उनके विस्तार की मांग बाजारू राजनीति है। आठवें दशक का कोई भी प्रमुख कार्यक्रम इस पैमाने से आँका जाना चाहिये कि वह स्कूल-भंग की जरूरत को खरा-खरा बतलाता है कि नहीं, और, समाज की शैक्षिक गुणवत्ता कि जिसे उसने अपना लक्ष्य बनाया हो, उसके लिये वह साफ-साफ निश्चित दिशा-निर्देश देता है कि नहीं ?

विश्व बाजार के और महाशक्तियों के प्रभुत्व के खिलाफ संघर्ष गरीब समुदायों और गरीब देशों के सामर्थ्य के बाहर है, लेकिन यह कमजोरी भी एक अतिरिक्त कारण ही है कि शैक्षणिक सांचे को पलट कर प्रत्येक समाज को मुक्त

किये जाने के महत्व को बल दिया जाये क्योंकि वह ही ऐसा परिवर्तन है जो किसी भी समाज की सामर्थ्य-सीमा के भीतर है।

नई औपचारिक शिक्षायी संस्थाओं के सामान्य लक्षण

किसी अच्छी शिक्षा प्रणाली के तीन अभिप्राय होने चाहिये : उसमें सभी इच्छुक विद्यार्थियों को उनके समूचे जीवनकाल में, किसी भी समय, उपलब्ध साधनों को सुलभ रखते हुए शिक्षा लेने का प्रबन्ध होना चाहिये; उसे उन सभी को जो अपना ज्ञान दूसरों को देना चाहते हैं, उन्हें अपने साझेदार (सीखने वाले) खोज लेने का अधिकार देना चाहिये; और अंततः उस प्रणाली में उन सभी लोगों को जो जनता के समक्ष कोई विचार-वस्तु प्रस्तुत करना चाहते हों उन्हें अपनी चुनौती जगजाहिर करने के अवसर मिलने चाहिये। इस तरह की प्रणाली को शिक्षा हेतु संवैधानिक गारंटियों के प्रयोग की जरूरत पड़ेगी। विद्यार्थियों को अनिवार्य पाठ्यक्रम के आगे समर्पण करने की बाध्यता नहीं होनी चाहिये, और यह भेदभाव नहीं होना चाहिये कि उनमें से किसके पास सार्टिफिकेट या डिप्लोमा है। जनता को भी, प्रत्यनुपाती करारोपण (Regressive Taxation) का बोझ उठाकर शिक्षाकारों की व्यवसायिक-जमात और शिक्षा-भवनों के बनाये चले जाने को समर्थन देने हेतु बाध्य नहीं करना चाहिये, जो वास्तव में जनता के सीखने के अवसरों को सिर्फ उन्हीं सेवाओं (Services) तक संकुचित करता है कि व्यवसाय जिन्हें मार्केट में फैलाना चाहता है। उसे आधुनिक टेक्नालॉजी का उपयोग स्वतंत्र भाषण, मुक्त मेलजोल और आजाद प्रेस को सच्चा सार्वभौम और इसीलिए सम्पूर्ण जैविक बना देने में करना है।

स्कूल इस अवधारणा पर रचे गये हैं कि जीवन में कुछ-न-कुछ रहस्य है, कि जीवन की गुणात्मकता उस रहस्य को जानने पर निर्भर है; कि रहस्यों को क्रमानुसार एक-के-बाद-एक जाना जा सकता है; और सिर्फ शिक्षक ही इन रहस्यों का उद्घाटन कर सकते हैं। स्कूली-दिमाग-युक्त व्यक्ति संसार की कल्पना ऐसे करता है जैसे वह वर्गीकृत पैकेजस (Classified Packages) का एक पिरामिड है जो सिर्फ उन्हीं को सुलभ है जिनके पास उपयुक्त लेबल हैं। नई शैक्षिक संस्थाएँ इन पिरामिड को तोड़ने वाली होनी चाहिये। उनका उद्देश्य विद्यार्थी

की पहुँच को सुलभ बनाने में है : उस कंट्रोल-रूम, या पार्लियामेंट के भीतर झाँकने के लिए, कि यदि वह दरवाजे से न जा सके तो, खिड़की का उपयोग करने की छूट मिलनी ही चाहिये। इसके अतिरिक्त, ऐसी नई संस्थाओं को स्वयं वैसी प्रणालियाँ बनाना चाहिये जिनमें विद्यार्थी की पहुंच बिना प्रमाण-पत्र अथवा बिना अभिजात्य के हो —याने वे ऐसी सार्वजनिक जगहें हों जिनमें उसके निकटस्थ क्षितिज के बाहर समकक्ष-विद्यार्थी (Peers) और गुरुजन उपलब्ध हों।

मैं सोचता हूँ कि अधिक-से-अधिक चार-बल्कि तीन ही-सुनिश्चित "प्रणालियों" या शैक्षणिक आदान-प्रदानों में सच्ची ज्ञानप्राप्ति के लिए आवश्यक सारे साधन मिल सकते हैं। बालक चीजों के किसी ऐसे संसार में विकसित होता है जो उन लोगों से भरा हुआ है कि जो हुनरों और मूल्यों के लिए मॉडेल हैं। उसे अपने समकक्ष (Peers) दिखाई देते हैं जो उसे वाद-विवाद करने, प्रतिस्पर्धा करने, सहयोग करने और समझ-बूझ रखने के लिए चुनौती देते हैं; और यदि बालक भाग्यशाली है तो वह किसी ऐसे अनुभवी बुजुर्ग के सान्निध्य में मुकाबले और गुण-दोष विवेचन की कशमकश में रहेगा जो वास्तव में सयाना समझदार बुजुर्ग हो। वस्तुएँ, मॉडेल, समकक्ष, और बुजुर्गगण ऐसे चार स्रोत हैं कि जिनमें से प्रत्येक के लिए ऐसे किस्म का प्रबन्ध होना चाहिये जो सुनिश्चित करे कि हर व्यक्ति को उसे हासिल करने के लिए पर्याप्त गुंजाइश मिलेगी।

मैं उपर्युक्त स्रोतों के चार समुच्चयों में से प्रत्येक को सुलभ करने के निश्चित तरीकों का उल्लेख करने के लिए "नेटवर्क" के एवज में "अवसर जाल" ("Opportunity web") का प्रयोग करूंगा। शब्द "नेटवर्क" दुर्भाग्य से, अमूमन मत-घोषन (Indoctrination), शिक्षण, और मनोरंजन के लिए दूसरों के द्वारा चुने गये पदार्थ हेतु सुरक्षित की गई प्रणालियों का उल्लेख करने के लिए बापरा जाता है। लेकिन उसे टेलीफोन अथवा पोस्टल सर्विसेज के लिए भी उपयोग में लिया जा सकता है, जो उन व्यक्तियों के लिए मूलतः सुलभ हैं जो एक दूसरे को सूचनाएँ भेजना चाहते हैं। मैं चाहता हूँ, कि परस्पर-संपर्क-सुलभता की इस तरह की जाल-रूप संरचनाओं का उल्लेख करने के लिए कोई दूसरा शब्द होना चाहिये : ऐसा शब्द कि जो महापाश को उभारने वाला नहीं हो, प्रचलित उपयोग से अधःपतित नहीं हुआ हो, और इस तथ्य का बड़ा सूचक हो कि ऐसे

किसी भी प्रबन्ध में कानूनी, संगठनात्मक और टेक्नीकल पहलू सम्मिलित हैं। ऐसी किसी उपयुक्त उक्ति के अभाव में, एक उपलब्ध संज्ञा के जरिये–उसे "शैक्षिक जाल" ('Educational web') के पर्यायवाची की तरह उपयोग में लेकर—मैं काम चलाने के प्रयास करूंगा।

नये नेटवर्क्स की जरूरत है, जो जनता को सुलभता से उपलब्ध हों, और जो सीखने–सिखाने के समान अवसरों की बनत लिए हों।

उदाहरणार्थ : टी वी में और टेपरिकार्डरों में ही–एक ही जैसी टेक्नालॉजी उपयोग में ली जाती है। सारे लेटिन अमेरिकी देशों ने अब टी वी को समाविष्ट कर लिया है : बोलिविया में सरकार ने एक टी. वी. स्टेशन को अनुदान दिया है जो छह वर्ष पूर्व बना था, जबकि चालीस लाख नागरिकों के वास्ते सिर्फ सात हजार टी वी सेट ही उपलब्ध हो सके हैं। समूचे लेटिन अमेरिका में टी वी प्रतिष्ठानों में फँसी पूँजी से, प्रति पाँच में से एक को, टेप रिकार्डर उपलब्ध कराया जा सकता था। इसके अतिरिक्त, वही पूँजी रेकार्ड–किये-टेपों की विशाल लाइब्रेरी के लिये भी पर्याप्त होती जो दूरस्थ गांवों तक भी पहुँच सके। साथ-ही-साथ, उसी धन से खाली कैसेट भी पर्याप्त मात्रा में खरीदे जा सकते थे।

टेप-रिकार्डों का यह नेटवर्क, यद्यपि, टीवी के वर्तमान नेटवर्क से क्रांतिकारी ढंग से भिन्न होगा। यह मुक्त अभिव्यक्ति के लिए अवसर प्रदान करेगा : पढ़-अपढ़ दोनों ही, समान रूप से, अपने-अपने मत-विमत को रेकार्ड कर सकते हैं, सँभाल कर रख सकते हैं, प्रसारित कर सकते हैं, और दोहरा सकते हैं। इसके विपरीत, टी.वी. में वर्तमान पूँजी–व्यय नौकरशाहों (चाहे वे राजनीतिक हों या शैक्षिक) को ऐसी सत्ता से भरता है जो वैसे संस्था-उत्पादित प्रोग्रामों को महाद्वीप पर बिखेरते हैं कि जिनके बारे में वे स्वयं (या उनके प्रायोजक) तय करते हैं कि वे प्रोग्राम जनता के लिए अच्छे हैं या जनता की मांग के अनुरूप हैं।

टेक्नालॉजी तो उपलब्ध है, या तो वह स्वाधीनता और ज्ञानप्राप्ति के विकास के लिए है, या फिर नौकरशाही और शिक्षण के विकास के लिए है।

चार नेटवर्क्स

नई शिक्षाकी संस्थाओं की योजना किसी प्रिंसिपल या प्रेसिडेंट के प्रशासकीय लक्ष्यों को लेकर, अथवा किसी व्यावसायिक शिक्षाकार के शिक्षण उद्देश्यों को मद्देनजर रखकर, अथवा जनता के किसी भी परिकल्पित वर्ग के ज्ञानप्राप्ति के लक्ष्यों को लेकर प्रारंभ नहीं की जानी चाहिये। वह इस प्रश्न से शुरू नहीं हो सकती—"उन्हें क्या सिखाया जाना चाहिये ?" दरअसल सही प्रश्न होगा—"विद्यार्थी सीखने हेतु किन प्रकारों की वस्तुओं और लोगों के संपर्क में आना चाहते हैं ?

वह कि जो सीखना चाहता है वह जानता है कि उसे किसी अन्य से सूचना और उसके उपयोग पर समीक्षात्मक प्रतिक्रिया की जरूरत है। सूचनाएँ लोगों में भी और वस्तुओं में भी इकट्ठा हो सकती हैं। किसी अच्छी शिक्षा–प्रणाली में वस्तुओं को हासिल करने की सुलभता, सीखने वाले को एकमात्र माँग पर उपलब्ध होना चाहिये, जबकि सूचना–प्रदान–करने–वाले व्यक्तियों के मामले में दूसरे की स्वीकृति एक अतिरिक्त जरूरत है। आलोचना फिर भी दो दिशाओं से आ सकती है : समकक्षों की ओर से, और बुजुर्गों की ओर से, यानि सहपाठी विद्यार्थियों की ओर से जिनकी तात्कालिक दिलचस्पी मुझसे मेल खाती हुई हो, अथवा उन लोगों की ओर से जो उनके उच्चस्तरीय अनुभव का एक हिस्सा मुझे देंगे। समकक्षों में वे सहयोगीजन हो सकते हैं जिनसे सवाल पूछा जा सकता है, वे दोस्त हो सकते हैं जिनके संग–संग चंचल और मजेदार (या दुष्कर) अध्ययन या सैर–सपाटा हो सकता है, वे वो हो सकते हैं जो किसी भी तरह के खेल के मुकाबलेबाज हों। बुजुर्गों में ऐसे सलाहकार हो सकते हैं जिनसे मशविरा किया जाये कि कौनसा हुनर चुनें, कि कौनसी विधि अपनायें, कि जरूरत के वक्त कैसा सहयोग लिया जाये। समकक्षों के दरम्यान सही प्रश्नों को उठाने में और जिन उत्तरों तक वे पहुंचे उनमें किसी खामी को दर्शाने में वे मार्गदर्शक हो सकते हैं। इन स्रोतों का अधिकांश बहुतायात में है। लेकिन दिक्कत यह है कि उनको शैक्षिक-स्रोतों के रूप में परिपाटीबद्ध पहचाना नहीं जाता, और न ही ज्ञानप्राप्ति के कामों के लिए उन तक पहुँचना सरल है, खासकर गरीबों के लिए। हमें नयी संपर्क संरचनाओं की अभिकल्पना करना होगी जो जानबूझकर इन स्रोतों

तक पहुँच को हर उस व्यक्ति तक सुलभ कर सके जो अपनी शिक्षा-ग्रहण वास्ते उन स्रोतों को तलाशने हेतु प्रोत्साहित किया गया है। ऐसी जाल-सी संरचना को सेट करने के लिए प्रशासनिक, टेक्नालॉजिकल और विशिष्ट-कानूनी प्रबन्धों की जरूरत है।

शिक्षायी स्रोतों को अमूमन शिक्षाचरों के पाठ्यक्रमी उद्देश्यों के अनुसार नामांकित किया जाता है। मैं इसके विपरीत प्रस्ताव करता हूँ—चार विभिन्न दृष्टिकोणों को नामांकित करके—कि जो विद्यार्थी को किसी भी उस शिक्षायी स्रोत तक पहुंचने योग्य बना दे जो उसे उसके अपने उद्देश्यों को निर्धारित करने और हासिल करने में सहायता करेंगे:—

(1) शैक्षिक वस्तुओं के संदर्भ बताने हेतु सेवाएँ

जो औपचारिक ज्ञानप्राप्ति के लिए चीजों और विधियों तक पहुँच को सुलभ करें। इस काम के लिए इनमें से कुछ चीजों को सुरक्षित रखा जा सकता है : पुस्तकालयों में, किराया दुकानों में, प्रयोगशालाओं में, म्यूजियम तथा थियेटर जैसे जो-कमों में संग्रहित किया जा सकता है। अन्य चीजों को फैक्टरियों, हवाई अड्डों या खेतों में रोजाना उपयोग के लिए रखा जा सकता है-लेकिन विद्यार्थियों को जो अप्रेंटिस के रूप में हों उन्हें वे वस्तुएँ उपलब्ध कराई जानी चाहिये। अथवा, छुट्टी के दिनों में वे सीखने की वस्तु समझी जायें।

(2) हुनर विनिमय केन्द्र

जो लोगों को अपने-अपने हुनरों की सीखने-के-इच्छुकों के लिए मॉडेल के रूप में सेवा करने को राजी होने की शर्तों की, और जहाँ मिलना हो सके वहाँ के पता-ठिकानों की फेहरिस्त बनाने की सहूलियत प्रदान करे।

(3) समकक्षों का सुमेल

यह परस्पर सूचना प्रदान का ऐसा नेटवर्क हो जो उस ज्ञानसीख-गतिविधि का विवरण देने के लिए लोगों को सुविधा प्रदान करे जिसमें वे शामिल होना चाहते हों—एक ऐसी आशा लेकर कि ज्ञानप्राप्ति की उस खोजबीन में उन्हें सही साथी का सुमेल मिल जायेगा।

(4) मुक्त शिक्षाकारों के पते-ठिकाने बताने हेतु सेवा-केन्द्र

इस तरह की सेवाओं के अंतर्गत ऐसी सूची तैयार रहे जिसमें शिक्षा देने योग्य व्यावसायिकों (Professionals), अर्ध-व्यावसायिकों (Paraprofessionals) एवं फ्रीलांसर (freelancers) के पते-ठिकाने हों तथा वे शर्तें भी दर्ज हों जिनके अंतर्गत वे अपनी सेवाएँ उपलब्ध करा सकते हों। अगले पृष्ठों में विस्तार से चर्चा के दौरान हम देखेंगे, कि ऐसे शिक्षाकार मतदान के द्वारा या उनके पूर्व-ग्राहकों से ली गयी सलाह के आधार पर चुने जा सकते हैं।

(1) शैक्षिक वस्तुओं के संदर्भ बताने हेतु सेवाएँ—वस्तुएँ, ज्ञानप्राप्ति के लिए मूलभूत स्रोत हैं। परिवेश की गुणवत्ता और किसी व्यक्ति का उससे सम्बन्ध यह तय करेगा कि वह संयोग से कितना सीखता है। औपचारिक ज्ञान-प्राप्ति को साधारण वस्तुओं तक पहुंचने में खास दखल की जरूरत लगती है, लेकिन शैक्षिक कामों के लिए बनाई गई विशेष वस्तुओं तक उसकी पहुंच आसान और विश्वसनीय होती है। पहले के लिए एक उदाहरण यह होगा कि गैरेज में चलती किसी मशीन को चलाने-खोलने के लिए विशेष अधिकार की आवश्यकता पड़ेगी। दूसरे के लिए उदाहरण यह होगा कि एक गणक, एक कम्प्यूटर, एक पुस्तक, एक बोटेनिकल गार्डन, अथवा फैक्ट्री से बाहर ले आयी गई एक मशीन जो छात्रों के उपयोग के लिए रख दी गई हो, इनके उपयोग हेतु आम अधिकार से काम चलाया जा सकता है।

आज वस्तुओं तक पहुंच के बावत्, और उनसे ज्ञान प्राप्त करने के बावत् गरीब और अमीर बच्चों के दरम्यान भेद-भाव पर ध्यान केन्द्रित हुआ है। इसी पहलू को मद्देनजर रखकर "द आफिस ऑफ एजुकेशनल अपार्चुनिटी" तथा अन्य सेवा संस्थाएँ गरीबों के लिए ज्यादा शैक्षिक उपकरण हासिल कराने का प्रयास करके, अवसरों की बराबरी हासिल करने पर जोर देती हैं। ज्यादा बड़ा क्रांतिकारी सोच यह हो सकता है कि यह माना जाये कि शहर में अमीर-गरीब दोनों ही समान स्तर पर उनके आस-पास की अधिकांश वस्तुओं से, नकली तौर-तरीकों द्वारा दूर रखे जाते हैं। प्लास्टिक्स के, और दक्षता-विशेषज्ञों के युग में पैदा हुए बच्चों को, अपनी समझ बिगाड़ने वाले दो अवरोधों (एक वह जो

वस्तुओं में ही गुंथा हुआ है, और दूसरा वह जो संस्थाओं को घेरे हुए है) को तोड़ना होगा। औद्योगिक तानाबाना वस्तुओं का ऐसा संसार खड़ा करता है जो उनकी प्रकृति में अंतर्दृष्टि डालने का प्रतिरोधी है, और सारे स्कूल विद्यार्थी को सार्थक सेटिंग में रचे-बसे हुए संसार को देखने देने से रोकते हैं।

न्यूयार्क की अपनी एक छोटी-सी यात्रा से लौटी हुई एक मैक्सिकन ग्रामीण महिला ने मुझे बतलाया कि वह इस तथ्य से प्रभावित हुई कि "बाजार सिर्फ ऐसे बर्तन बेच रहे थे जो कास्मेटिक्स की भरपूर चिकनाई से चुपड़े हुए थे।" इस बात को मैंने इस तरह समझा कि औद्योगिक उत्पादन अपने उपभोक्ताओं को अपनी चमक-दमक ही "बतलाते" हैं, अपनी प्रकृति नहीं। उद्योग ने लोगों को ऐसी सजावटों-और-बनावटों से घेर दिया है जिनकी अंदरूनी कार्यप्रणाली सिर्फ विशेषज्ञों को समझने दी जाती है। किसी गैर-विशेषज्ञ को इस प्रकार की हतोत्साहित किया जाता है कि वह समझे कि वह क्या है जो घड़ी से टिकटिक ध्वनि निकलवाता है, कि टेलीफोन की घंटी क्यों टिनटिनाती है, या कि इलेक्ट्रिक टाइपराइटर कैसे चलता है; उसे चेतावनी दी जाती है कि यदि वह कोशिश करेगा तो वे टूट जायेंगी। उसे यह बता दिया जाता है कि ट्रांजिस्टर रेडियो कैसे चलता है, किन्तु वह स्वयं उसे खोल-खोल कर उसका ताना-बाना नहीं जान सकता। इस तरह की डिजाइन किसी गैर-अन्वेषक समाज को पुनः स्थापित करने का रुख अपनाये रखती है जिसमें विशेषज्ञों को उत्तरोत्तर आसानी होती जाती है कि वे अपनी विशेषज्ञता के पीछे दुबके रहें और अपने मूल्यांकन से बचे रहें।

मनुष्य-निर्मित पर्यावरण आज के मनुष्य के लिए उतना ही दुर्बोध है जितनी अग्राह्य आदिम मनुष्य के लिए प्रकृति रही है। इसके अतिरिक्त शैक्षणिक पदार्थों पर स्कूल ने एकाधिकार जमा लिया है। सरल शिक्षायी वस्तुओं को "नालेज इंडस्ट्री" (स्कूल) ने खर्चीले पैकेजों में पैक कर लिया है। वे व्यावसायिक शिक्षाचारों के लिए विशेषीकृत औजार बन गयी हैं, और "पर्यावरणों" को या शिक्षकों को उत्तेजित करने हेतु उन्हें बाध्य करके उनकी कीमत फुला दी गई है।

शिक्षक अपनी पाठ्यपुस्तक (जिसे वह अपने व्यावसायिकउपकरण के रूप में परिभाषित करता है) के प्रति आशंकित रहता है। छात्र प्रयोगशाला से नफरत कर सकता है क्योंकि वह उसे स्कूल-वर्क के साथ जुड़ा हुआ देखता है।

प्रशासक जो है सो वह पुस्तकालय के प्रति अपने सुरक्षात्मक रुख को इस तरह रेशनलाइज करता है जैसे वह, उन लोगों से, महँगे सार्वजनिक उपकरणों (टेप, पुस्तकें आदि) की सुरक्षा कर रहा है जो उनके जरिये ज्ञान प्राप्त करने के बजाय उन्हें बिगाड़ न दें। इस वातावरण में छात्र भी नक्शे, प्रयोगशाला, एनसाइक्लोपीडिया या माइक्रोस्कोप का उपयोग सिर्फ उतने क्षणिक काल तक ही करता है कि पाठ्यक्रम जितना उससे करने को कहता है। यहाँ तक कि महान् क्लैसिक-रचनाएँ भी एक आदमी की जिंदगी को कोई नया मोड़ देने के बजाय महज "कालिजी-पढ़ाई" का अंग बन जाती हैं। स्कूल वस्तुओं पर शिक्षायी लेबल लगाकर उन्हें उनकी दैनंदिन उपयोगिता से दूर छोड़ देता है।

यदि हमें स्कूल-मुक्ति चाहिये, तब दोनों रुखों को पलटना होगा। सामान्य भौतिक परिवेश को सुलभ बनाये रखना होगा और उन भौतिक-शैक्षिक स्रोतों को, जिन्हें शैक्षिक-उपकरण के रूप में घटा दिया गया है, उन्हें स्वयं-निर्देशित ज्ञान-प्राप्ति के लिए आमतौर पर सुलभ होना चाहिये। वस्तुओं को सिर्फ पाठ्यक्रम के किसी अंश के रूप में उपयोग में लेने का असर, उन्हें सिर्फ सामान्य परिवेश से काट देने से होने वाले कुप्रभाव से भी ज्यादा खराब होगा। वह विद्यार्थियों के रवैयों को भ्रष्ट कर सकता है।

जैसे खेलों को लें। मेरा आशय फिजीकल एजुकेशन डिपार्टमेंट के खेलों (फुटबाल, बास्केटबाल आदि) से नहीं है जिनको स्कूल अपनी आमदनी और शोहरत बढ़ाने के उपयोग में लेते हैं और उनके लिए अच्छी खासी पूँजी खपाते हैं। (जैसे, खिलाड़ी स्वयं बखूबी जानते हैं कि वे उद्यम जो युद्धोन्मादी टूर्नामेंटों की शक्ल अख्तियार कर लिये होते हैं, उन्होंने खेलकूदों की लीलापरता को चकनाचूर कर दिया है, और, स्कूलों के प्रतियोगी स्वभाव को प्रबलित किया है।) मैं, बहरहाल, उन शैक्षिक खेलों की चर्चा करना चाहता हूं जो औपचारिक प्रणालियों में घुसने के किसी विलक्षण तरीके को प्रस्तुत कर सकते हैं। सेट थ्योरी, भाषा-विज्ञान, प्रपोजिशनल लाजिक, ज्यामिट्री, फिजिक्स और यहाँ तक कि कैमिस्ट्री भी किन्हीं लोगों को, यदि वे इन "खेलों" को "खेलें" तो, अत्यंत साधारण प्रयास के द्वारा समझ में आ सकते हैं। मेरा दोस्त मेक्सिको के मार्केट में एक खेल ले गया—

वफ न प्रूफ (Wff'n proof) जिसमें कुछ पासे थे, जिन पर तार्किक-प्रतीकों (Logical symbols) के छापे थे। उसने बच्चों को बतलाया कि कौन-कौन से दो अथवा तीन जोड़ (Combinations) एक सुघड़ वाक्य रच देते हैं। देखते, देखते पहले ही घंटे में कुछ तमाशबीन दर्शकों ने भी अनुमान भिड़ा भिड़ा कर सिद्धांत को ग्राह्य कर लिया। फार्मल लॉजिकल प्रूफ (formal logical proofs) के आयोजन के चंद मनोरंजक घंटों में, कुछ बच्चे प्रपोजिशनल लॉजिक के आधार-भूत सिद्धांतों से अन्य लोगों का परिचय करा सकते हैं। वे अन्य लोग सिर्फ खेलते हुए ही सीख लेते हैं।

वास्तव में, कुछ बच्चों के लिए ये खेल शिक्षा को मुक्त करने का एक विशेष रूप है चूँकि वे अपने इस तथ्य-बोध को उभारते हैं कि औपचारिक प्रणालियाँ परिवर्तनीय स्वयं-सिद्धियों पर आधारित हैं जबकि अवधारणात्मक क्रिया-व्यापारों में खेलमय प्रकृति होती है। वे सरल भी हैं, सस्ते भी, और-बड़ी हद तक-स्वयं खिलाड़ियों के द्वारा आयोजित हो सकते हैं। पाठ्यक्रम के बाहर प्रयुक्त ऐसे खेल अनजानी प्रतिभाओं को चीन्हने और उन्हें विकसित करने के अवसर प्रदान करते हैं, जबकि स्कूली-मनोविश्लेषक वैसी प्रतिभाओं से युक्त युवाओं को अक्सर इस तरह चीन्हता है जैसे वे अ-सामाजिक, बीमार, या असंतुलित तत्व हों। स्कूल के दायरे में, जब खेलों को टूर्नामेंटों के रूप में रखा जाता है, वे न केवल मनोरंजन के क्षेत्र से बाहर होते हैं, बल्कि वे अक्सर ऐसे औजार बनते हैं जो मनो-विनोद की प्रतिस्पर्धा में—याने, अमूर्त विचारशून्यता को हीन भावना के लक्षण में तब्दील करने के काम आते हैं। एक ऐसा अभ्यास जो कुछ लक्षण-सम्पन्न युवाओं के लिए मुक्तिदाता है लेकिन वही अन्यों के लिए बेड़ियाँ बन जाता है।

शैक्षिक उपकरणों के ऊपर स्कूल के नियंत्रण का फिर और भी एक अन्य असर होता है। वह यह कि अन्यथा सस्ती शैक्षिक-वस्तुओं के दाम अनाप-शनाप बढ़ जाते हैं। एक बार जब नियत घंटों तक उनका उपयोग निर्बंधित हो जाता है तो व्यावसायिकों (प्रोफेशनल्स) को उन्हें हासिल करने, गोदाम में जमा करने, और उपयोग में लाने की पगार मिलती है। और, छात्र भी स्कूल के खिलाफ अपने गुस्से को उपकरणों पर उगलते हैं, जिन्हें पुनः खरीदना पड़ता है।

शैक्षिक उपकरणों की अस्पृश्यता के समानांतर, आधुनिक कूड़ा-कबाड़ (याने आधुनिक मशीन-पुर्जन) की अभेद्यता भी रहस्यमय है। चौथे दशक में कोई भी आत्माभिमानी युवक जानकारी रखता था कि किसी कार की मरम्मत कैसे की जाये, लेकिन आज कार-उत्पादक तारों का गुच्छा बढ़ाते जाते हैं और मशीन-सम्बंधी-विवरण पुस्तिकाओं (Manual) को हर किसी को नहीं देते हैं, उन्हें सिर्फ विशेषज्ञ-मैकेनिक के लिए ही बनाते हैं। पुराने जमाने में, एक पुराने रेडियो में इतना पर्याप्त तार-कुण्डल और कन्डेंसर होते थे जिनसे एक ऐसा ट्रांसिस्टर बन जाये जो फीडबैक देकर आसपास के सारे रेडियो-सेटों से आवाजें निकलवा दे। ट्रांसिस्टर रेडियो ज्यादा अच्छे पोर्टेबल तो होते हैं, किन्तु उन्हें आज कोई भी खोलकर जोड़ने की जुर्रत नहीं कर सकता। बहरहाल, बड़े औद्योगीकृत देशों में इस स्थिति को बदलना नामुमकिन-सा है, लेकिन कम-से-कम तीसरी दुनिया में हमें उसकी संरचना के अर्थ-बोध वाली शैक्षिक-गुणवत्ता के लिए आग्रह करना चाहिये।

अपने मत को दर्शाने के लिए मैं एक मॉडेल प्रस्तुत करता हूँ: एक करोड़ डालर खर्च करके पेरू जैसे देश के चालीस हजार गांवड़ों को छह फुट चौड़ी कच्ची सड़कों के जाल से जोड़ा जा सकता है तथा उनका रख-रखाव किया जा सकता है, और, साथ-ही-साथ पेरू देश को दो लाख मैकेनिकल तीन-पहिया गाड़ियाँ (Three-wheeled Mechanical Donkeys) उपलब्ध करायी जा सकती हैं—प्रत्येक गांवड़े के लिए औसतन पांच। इस श्रेणी के चन्द गरीब देश ही कारों और सड़कों पर इतनी रकम के आस-पास खर्च करते हैं, और दोनों ही चीजें अमीरों और उनके नौकरों तक ही मुख्यतः सीमित हैं, जबकि गरीब लोग अपने गांवों में सिकुड़े रहते हैं। इन वाहनों में से प्रत्येक सरल और टिकाऊ होगा और इनकी कीमत भी 125 डालर होगी—जिसका आधा ट्रांसमिशन के लिए और छह हार्सपावर की मोटर के लिए होगा। इस तरह की एक गाड़ी ('Donkey') 15 मील प्रति घंटे की रफ्तार से चलेगी और अपने ऊपर 850 पौंड का भार उठा सकेगी (याने, लगभग सारा ही सामान जैसे, बड़े-बड़े झाड़ों के कटे लट्ठे और लोहे के खंभे जो सामान्यतः एक स्थान से अन्य स्थान पर ले जाये जाते हैं)।

किसान-जनता के लिए इस तरह की परिवहन प्रणाली की राजनीतिक अपील स्पष्ट है। यह कारण भी सामान्य रूप से स्पष्ट है कि वे जो सत्तावान हैं— और इसी कारण अपने-आप ही उनके पास निजी कारें हैं—वे कच्ची सड़क बनाने में और उन सड़कों पर "ठेलागाड़ी" (Engine-Driven Donkeys) खड़खड़ाने में दिलचस्पी नहीं रखते। सार्वभौम "ठेलागाड़ी" तभी काम-चलाऊ होगी जब किसी देश के नेतागण राष्ट्रीय रफ्तार की सीमा बांधेंगे – जैसे कि – पच्चीस मील प्रति घंटा, और सार्वजनिक विधि और नियम लागू करेंगे। यह मॉडेल कि यदि उसे अस्थायी प्रबन्ध या सामयिक उपाय के रूप में माना जावे तो वह काम का नहीं रहेगा।

इस पुस्तक में मॉडेल की राजनीतिक, सामाजिक आर्थिक, वित्तीय और टेक्निकल व्यवहार्यता पर विस्तार से बताना उचित नहीं होगा। मेरा इशारा भर यही है कि पूँजी-प्रबल परिवहन के किसी विकल्प के बाबत् सोचते वक्त शिक्षार्थी सोच-विचार प्रमुख महत्व का हो सकता है। प्रत्येक "ठेलागाड़ी" पर यदि उसकी कीमत का बीस प्रतिशत अतिरिक्त धन लगाया जावे तो संभव हो सकता है कि उसके सारे हिस्सों के उत्पादन को इस तरह प्लान कर लिया जावे कि, जहाँ तक संभव हो, प्रत्येक "ठेलागाड़ी-मालिक" दो-एक महिने के भीतर ही अपनी मशीन का समूचा जोड़-तोड़ समझ ले और जब-तब उसकी आसानी से मरम्मत कर ले। इस अतिरिक्त कीमत में अनेक बिखरे-बिखरे इलाकों में, भिन्न-भिन्न जगहों पर, कारखाने लगाकर उत्पादन को विकेंद्रीकृत किया जाना सम्भव हो सकता है। उत्पादन प्रक्रिया में शैक्षणिक कीमतों को शामिल करने से ही सिर्फ ये अतिरिक्त लाभ मिलेंगे ऐसा नहीं है। खास करके यह टिकाऊ मोटर जिसे आम तौर पर हर कोई रिपेयर करना सीख सके और जो उसे समझता हो, वह उसे हल या पम्प के उपयोग में भी ले सके, तब तो, विकसित देशों के अभेद्य इन्जिनों के बजाय वह ज्यादा बेहतर शिक्षार्थी-लाभ प्रदान करेगी।

न सिर्फ कूड़ा-कबाड़ बल्कि आधुनिक शहर के तथाकथित सार्वजनिक स्थल भी अभेद्य हो गये हैं। अमेरिकन समाज में, अनेक बातों में और अनेक स्थानों में बच्चों को इस आधार पर शामिल नहीं किया जाता क्योंकि वे बातें और स्थान प्राइवेट हैं। पर उन समाजों में भी जिन्होंने निजी सम्पत्ति का खात्मा कर दिया

है, उनमें भी, बच्चों को कुछ जगहों और वस्तुओं से यह कह कर दूर रखा जाता है कि वे वस्तुएं और जगहें व्यावसायिकों (Professionals) के विशेष क्षेत्र के अंतर्गत हैं और अप्रशिक्षितों के लिए खतरनाक हैं। पिछली पीढ़ी के समय से रेलरोड-यार्ड उतना ही दुर्गम्य और पहुंच-के बाहर हो चला है जितना कि पावर-स्टेशन है। यद्यपि, थोड़ी-सी ही होशियारी से यह संभव हो सकता है कि वैसी जगहों पर सुरक्षा उपलब्ध हो सके। शिक्षा की कला-वस्तुओं (Artifacts) को स्कूल मुक्त करने के लिए कला-वस्तुओं और प्रक्रियाओं को सहजता से उपलब्ध करना होगा—और उनके शैक्षणिक मूल्यों को पहचानना होगा। अवश्य ही, अपने कार्यक्षेत्र में विद्यार्थियों के सहज आने-जाने के कारण कुछ कारखाना कारीगरों को परेशानी होगी; लेकिन इस असुविधा को शैक्षणिक लाभ से संतुलित हुआ माना जाना चाहिये।

मेनहट्टन में निजी कारों पर प्रतिबंध लगा दिया जाना चाहिये। पांच वर्ष पूर्व ऐसा सोचा भी नहीं जा सकता था। आज न्यूयार्क की कुछ सड़कें चन्द घंटों तक कारों के लिए बन्द रहती हैं, और यही प्रवृत्ति शायद और आगे बढ़ेगी। वास्तव में, कई चौरस्ते (Cross-Streets) मोटरकारों के आवागमन हेतु प्रतिबंधित कर दिये जाने चाहिये, और चाहे जहां पार्किंग करने पर रोक लगानी चाहिये। किसी शहर में फिर जो लोगों के लिए खुला हो गया हो, उसके भंडारगृहों और प्रयोगशालाओं में तालाबंद शैक्षिक-सामग्रियों को सड़क-की-ओर खुलने वाले स्वतंत्र-रूप से प्रबंधित डिपो में खुला रखना चाहिये जहां बच्चे और वयस्क गाड़ियों से दब जाने के डर से मुक्त होकर, आराम से घूम-फिर कर उन्हें देख समझ सकें।

यदि ज्ञानप्राप्ति के लक्ष्य स्कूलों एवं स्कूल-टीचरों के प्रभुत्व से छूट जावें, तब विद्यार्थियों के लिए एक विशाल विविध मार्केट खुल जावेगा और "शैक्षिक कला-कौशल" ('Educational Artifacts') की परिभाषा कम प्रतिबंधित रहेगी। तब टूल-शॉप्स, पुस्तकालय, प्रयोगशालाएं, और खेल-कक्ष सामने होंगे। फोटो-लैब और ऑफसेट-प्रेस पड़ोसी-समाचारपत्रों को फलने-फूलने देंगे। कुछ स्टोरफ्रन्ट-लर्निंग-सेंटर ऐसे दर्शन-बूथ (ViewingBooth) रख सकते हैं जिनमें

क्लोज-सर्किट टेलीविजन देखा जा सके, तो कुछ प्रशिक्षण-दुकानें सार्वजनिक उपयोग वाले और मरम्मत वाले आफिस-उपकरणों को दर्शा सकते हैं। ज्यूक बाक्स अथवा रेकार्ड प्लेयर आमसहम हो सकते हैं कि जहां कोई चाहे कलैसिकल संगीत में या चाहे अंतर्राष्ट्रीय लोकधुनों में या जैज-संगीत में विशेषज्ञता हासिल कर सकते हैं। फिल्म-क्लब आपस में प्रतिस्पर्धा कर सकते हैं। म्यूजियमों के बरामदे आदि (कदाचित् विभिन्न मेट्रोपोलिटन म्यूजियमों के द्वारा संचालित होकर) पुरानी और नई" मौलिक और पुनर्मुद्रित कला-सामग्रियों की प्रदर्शनियों के प्रसारण हेतु नेटवर्क्स हो सकते हैं।

इस नेटवर्क हेतु जिन जानकार कर्मचारियों की जरूरत लगेगी, वे शिक्षकों की तरह न हो कर बहुत-कुछ कस्टोडियनों, म्यूजियम-गाइडों या लाइब्रेरियनों की तरह होंगे। वे बायलॉजी-स्टोअर के किसी कोने से अपने शिक्षार्थियों को म्यूजियम में रखी हुई सीपियों (Shell Collection) को दिखा सकते हैं, अथवा किसी "खिड़की" (Viewing Booth) पर जीवविज्ञान के वीडियो टेप्स के प्रोग्रामों की जानकारी दे सकते हैं। वे कीटनाशकों बाबत्, संतुलित आहार बाबत्, या रोग-के-रोकथाम की दवाईयों बाबत् दिशानिर्देश उपलब्ध करा सकते हैं। वे जरूरतमंद लोगों को उन 'बड़ों' के पते बता सकते हैं कि जो सलाह दे सकते हों।

"शैक्षिक वस्तुओं" के किसी नेटवर्क के आर्थिक-प्रबन्ध हेतु दो स्पष्ट रुख अख्तियार करना होंगे। कोई समुदाय यह तय कर सकता है कि इस कार्य हेतु सर्वाधिक बजट कितना हो और यह व्यवस्था कर सकता है कि नेटवर्क के सभी भागों को देखने समझने के लिए आगंतुकों (याने दर्शकों, याने शिक्षार्थियों) के आने-जाने के उपयुक्त घंटे कौन से हो सकते हैं। अथवा, समुदाय यह तय कर ले कि किन्हीं खास महंगे और दुर्लभ सामानों की जानकारी लेने-समझने हेतु नागरिकों का प्रवेश उनकी आयु के अनुसार हो (याने सिर्फ वयस्कों के लिए हो) और अन्य सामान्य सामानों के दर्शन-ज्ञान-समझ हेतु सभी को इजाजत हो।

शिक्षा के लिए विशेषकर बने सामानों के वास्ते स्रोतों को खोजना, शिक्षायी संसार को रचने का एकमात्र (और शायद, सस्ता-से-सस्ता) पहलू है। स्कूली प्रपंच के पवित्र-पावन भरे पर खर्च होने वाले [illegible] बजट को, समस्त नागरिकों द्वारा

नगर की वास्तविक जिंदगी समझने वास्ते, उसके भीतर ज्यादा-से-ज्यादा पैठने-समझने के काम में खर्च कर देना चाहिये। मानवी स्थितियों को सम्मानजनक रखकर आठ से चौदह वर्ष की आयु के बालकों को प्रतिदिन घंटा-दो-घंटा रोजगार पर रखने वाले मालिकों को कुछ अनुदान दिया जा सकता है। हमें "बरमित्जवह" (Burmitzvah) या स्थायी-करने (Confirmation) की परम्परा पर पुनः लौट आना चाहिये। इससे मेरा तात्पर्य यह है कि किशोरों के विशेषाधिकार-वंचन को पहले कम करके और फिर पूरा हटाकर हम बारह वर्ष की आयु के बालक को समुदाय की जिंदगी में समूचा जिम्मेदार वयस्क आदमी बनने की इजाजत दे सकते हैं। अनेक "स्कूली-उम्र" के लोग अपने परिवेश के बाबत् समाज-कर्मियों या पार्षदों से ज्यादा बेहतर जानकारी रखते हैं। हां, वे जरा ज्यादा ही अटपटे सवालों को उछाल सकते हैं और ऐसे समाधान सुझा सकते हैं जो नौकरशाही को विचलित करें। उन्हें आयु की सीमा तोड़ने की इजाजत मिलनी चाहिये ताकि वे अपने ज्ञान को और तथ्य-खोजने की योग्यता को मुक्त होकर किसी लोकप्रिय सरकार की सेवा में दे सकें।

अभी-अभी तक भी स्कूल के खतरों को, पुलिस-फोर्स के प्रशिक्षण के, या अग्निशामक-विभाग के प्रशिक्षण के, या मनोरंजन-उद्योग के प्रशिक्षण के खतरों की तुलना में, आसानी-से कमतर आंक लिया जाता रहा है। स्कूलों को सहज ही न्याय संगत मान लेने में यह कहा जाता था कि कम-से-कम वह किशोरों की सुरक्षा तो करता है। अक्सर ही यह तर्क ज्यादा नहीं चल पाया। हार्लेम के एक मेथाडिस्ट चर्च में मैं कुछ दिन पूर्व गया जो हथियारबंद यंग लार्ड्स ने इस बात के प्रतिरोध में कब्जे में कर रखा था कि एक प्यूएर्टोरिकन नवजवान जूलिओ रोडेन, अपने जेलकक्ष में लटका हुआ मृत पाया गया था। मैं उस ग्रुप के नेताओं से परिचित था चूंकि वे एक सेमिस्टर तक क्यूएर्नावाका में मेरे साथ थे। मैंने कुतूहलवश उनसे पूछा कि उनका साथी जुआन उनके साथ क्यों नहीं है तो जवाब मिला कि "वह हेरोइन की मस्ती में और स्टेट यूनिवर्सिटी में पुनः लौट गया है।"

उद्योग-संयंत्रों और उद्योग-उपकरणों में लगी हुई हमारे समाज की विशाल लागत (इन्वेस्टमेंट) के भीतर बसे हुए शैक्षिक सामर्थ्य को योजना, प्रोत्साहन और

कानून द्वारा मुक्त किया जा सकता है। शैक्षिक वस्तुओं के भीतर पूरी तरह घुस-पैठ तब तक नहीं जम सकेगी कि जब तक 'अधिकारों के अधिनियम' ('Bill of Rights') के अन्तर्गत व्यक्तियों-की-प्राइवेसी के लिए दिए गये कानूनी संरक्षणों, और लाखों उपभोक्ताओं एवं हजारों कर्मचारियों, स्टाकहोल्डरों तथा सप्लायरों के द्वारा न्यौछावर की हुई आर्थिक सत्ता व्यापारिक फर्मों को मिली हुई है। विश्व का विशाल उद्योग-तंत्र (Know-how) और उसकी अधिकांश उत्पादन-प्रक्रियाएँ एवं उपकरण, व्यापारिक-फर्मों की चहारदीवारों में कैद हैं, और वे उपभोक्ताओं, कर्मचारियों, तथा स्टाकहोल्डरों की, तथा आम जनता की भी पहुंच के एकदम बाहर हैं, और विडम्बना यह है कि इनके ही कानूनों एवं सुविधाओं की अनुमति से वे पनपी हुई हैं। पूंजीपति देशों में आज विज्ञापन पर हो रहे खर्च को "जनरल इलेक्ट्रिक", "नेशनल ब्राड-कास्टिंग-एण्ड-टी वी", या "बुडवाइजर बीअर" कंपनियों के बावत् और उन्हीं के द्वारा शिक्षा दी जाने की ओर घुमा दिया जाना चाहिये। याने कि उद्योग-संयंत्रों और दफ्तरों को पुनर्गठित किया जाना चाहिये ताकि उनके दैनंदिन-कार्य-संचालन जनता की अधिक-से-अधिक पहुँच के भीतर इस तरह से हों कि जिससे उनके बारे में सीखना-जानना आसानी से संभव हो सके, और वास्तव में ही ऐसे तरीके ईजाद किये जा सकते हैं कि कम्पनियों को उनके यहां से ज्ञानप्राप्ति के लिए आये हुए कर्मचारियों और कारीगरों के एवज में भुगतान किया जा सके।

राष्ट्र की तथाकथित सुरक्षा के स्वांग के भीतर वैज्ञानिक उपकरणों और आंकड़ों का एक और भी ज्यादा महत्वपूर्ण संकाय आम जनता की पहुँच के—यहां तक कि योग्यता प्राप्त वैज्ञानिकों की भी पहुँच के बाहर रखा जाता है। अभी-अभी तक विज्ञान ऐसा फोरम था कि जो विद्रोही के स्वप्न की तरह काम करता था। प्रत्येक आदमी, जो अनुसंधान करने योग्य था, उसके पास जरूरी औजारों-उपकरणों का उपयोग करने और विद्वतजनों के समुदाय के समक्ष अपनी बात रखने की सुविधा के लिए समान अवसर थे। अब, नौकरशाहीकरण और संगठन ने लगभग समूचे विज्ञान को सार्वजनिक पहुँच के बाहर कर दिया है। वास्तव में जो कभी वैज्ञानिक-सूचना का अन्तर्राष्ट्रीय नेटवर्क था वह प्रतिस्पर्द्धी टीमों के किसी अखाड़े में छितर गया है। वैज्ञानिक समुदाय के सदस्य भी और उनकी युक्तियाँ भी ऐसे राष्ट्रीय और संघीय कार्यक्रमों की गिरफ्त में हैं कि जो

उस व्यावहारिक उपलब्धि की ओर अभिमुख है जो उन्हीं राष्ट्रों और संघों को समर्थन देने वाले मनुष्यों का ही जबर्दस्त दरिद्रीकरण कर रही है।

किसी ऐसे संसार में जो राष्ट्रों और संघों के द्वारा नियंत्रण में और स्वामित्व में रखा जाता है, उसमें शैक्षिक वस्तुओं के भीतर तक पहुँच सदैव के लिए कुछ ही दूरी तक संभव रह सकेगी। लेकिन, सिर्फ उन वस्तुओं तक ही जो अपने उपयोग के साथ-साथ शैक्षिक-उपयोग में भी आती हों, सिर्फ उन तक ही ज्यादा गहरी पहुँच हासिल कर लेने से इतना पर्याप्त ज्ञानवर्धन तो हो ही सकता है जो इन अन्तिम राजनीतिक अवरोधों को तोड़ गिराने में मदद दे सके। सार्वजनिक-स्कूल वस्तुओं के शैक्षिक उपयोगों के ऊपर अपने नियंत्रण को निजी हाथों में से खींचकर प्रोफेशनल हाथों के हवाले कर देते हैं। स्कूलों का संस्थायीपन भंग कर देने से व्यक्ति इतना सशक्त हो सकता है कि वह इन वस्तुओं को शिक्षा के उपयोग में लेने के लिए अपने अधिकार को पुनः हासिल कर सके। सच्चा सार्वजनिक किस्म का स्वामित्व उभरना शुरू हो सकता है यदि चीजों के शैक्षिक पहलू पर से निजी अथवा संघीय नियंत्रण को पूरी तरह लुप्त कर दिया जाये।

(2) हुनर विनिमय (Skill Exchange)

एक सितार-शिक्षक को किसी म्यूजियम में रखी सितार की तरह वर्गीकृत नहीं किया जा सकता है, अथवा जनता के द्वारा स्वामित्व में नहीं रखा जा सकता है, अथवा किसी शैक्षिक गोदाम से किराये पर नहीं लिया जा सकता है। हुनर के शिक्षक, किसी हुनर सीखने हेतु लगने वाली वस्तुओं से भिन्न प्रकार के स्रोत होते हैं, इसका यह अर्थ नहीं कि वे हर मामले में अपरिहार्य ही हों। तुम एक सितार किराये पर ले सकते हो, और टेप किये हुए सितार-पाठों और सचित्र चार्टों के द्वारा अपने-आप सितार बजाना सीख सकते हो। और, वास्तव में ही, इस व्यवस्था में अनेक लाभ इन स्थितियों में तो हैं ही—कि जब टेप उपलब्ध-शिक्षकों से बेहतर हों, कि जब तुम्हारे पास सितार सीखने के लिए देर रात में ही समय बचता हो, या कि राग-धुनें जो तुम सीखना चाहते हो वे तुम्हारे देश में अज्ञात हों, अथवा कि जब तुम्हारा स्वभाव शर्मीला हो और तुम अपने एकांत में ही सितार को खटखटाना चाहते हो।

हुनर-सिखाने-वाले शिक्षकों (स्किल टीचर्स) के साथ वस्तुओं की जानकारी एकत्र करने वाली प्रणाली की अपेक्षा किसी भिन्न किस्म की प्रणाली के द्वारा संपर्क रखकर उन्हें सूचीबद्ध करना होगा। किसी वस्तु को तो उपभोक्ता की मनमर्जी पर उपलब्ध किया जा सकता है—जबकि कोई व्यक्ति तभी हुनर-ज्ञान का स्रोत बनता है कि जब वह वैसा बनने को खुद राजी हो, और वह स्वयं ही अपनी मर्जी के समय, स्थान और विधि को तय करता है।

स्किल-टीचर्स उन समकक्षों (Peers) से, कि जिनसे कोई शिक्षण लेता है उनसे भिन्न हैं। समकक्ष (Peers) जो किसी सामूहिक जानकारी का पीछा करते हैं उन्हें सामूहिक अभिरुचियों और योग्यताओं के बिन्दु से ही प्रारम्भ करना होता है; वे उसी हुनर का अभ्यास और सुधार करते हैं जिसमें वे हिस्सेदारी करते हैं जैसे बास्केटबाल, नृत्य, किसी कैम्प-स्थल का निर्माण, अथवा अगले आम चुनाव की चर्चा। इसके विपरीत किसी हुनर के पहले सम्प्रेषण में—उस व्यक्ति को जिसे हुनर ज्ञात है और उस व्यक्ति को जिसे नहीं है लेकिन जो सीखने को उत्सुक है—इन दोनों को परस्पर संपर्क में लाना अंतर्निहित है।

"आदर्श शिल्पकार" ('Skill model') एक ऐसा व्यक्ति है कि जिसके पास कोई हुनर है और वह अपनी रियाज (practice) का प्रदर्शन करने को राजी है। इस तरह का बारम्बार प्रदर्शन किसी सक्षम शिक्षणार्थी के लिए एक जरूरी स्रोत है। आधुनिक अन्वेषण ऐसे प्रदर्शनों को टेप, फिल्म, चार्ट आदि में रेकार्ड करने की सुविधा प्रदान करते हैं; फिर भी उम्मीद है कि वैयक्तिक प्रदर्शनों की, खासकर सम्प्रेषण-सम्बन्धी-हुनरों (Communication Skills) की एक बड़ी मांग बरकरार रहेगी। क्यूएर्नावाका में स्थित हमारे एक केन्द्र में लगभग दस हजार ऐसे प्रौढ़ों ने स्पेनिश भाषा सीखी जो इस बात से खूब उत्साहित थे कि इस "दूसरी" भाषा में वे अच्छी खासी धाराप्रवाहिता हासिल करना चाहते थे। जब उनके सामने चुनाव करने का अवसर आया—कि क्या वे भाषा प्रयोगशाला (Language Laboratory) में संयोजित कार्यक्रम के द्वारा प्रशिक्षण लेने का रास्ता अपनाना पसन्द करेंगे, अथवा दो अतिरिक्त विद्यार्थियों के साथ किसी देशी वक्ता के सहयोग से एक कठोर दिनचर्याबद्ध अभ्यास करना पसंद करेंगे—तो अधिकांश ने दूसरा रास्ता पसन्द किया।

इन अनेक हुनरों के लिए, जो बहुतायत में परस्पर सीखे-सिखाये जाते हैं, वही व्यक्ति कि जो हुनरों का प्रदर्शन करता है—सिर्फ वो ही एकमात्र ऐसा मानवी स्रोत है कि जिसकी हमें शाश्वत जरूरत है और वह हमें मिलता भी है। चाहे भाषा-पाठ हो, चाहे मोटर-ड्राइविंग हो, चाहे संचार-उपकरणों को चलाना हो, हमें कदाचित् ही औपचारिक सीख या प्रशिक्षण का भान होता है खासकर उस वक्त कि जब सम्बन्धित वस्तुओं से हमारा पहला साबका हुआ हो। मुझे ऐसा कोई कारण नजर नहीं आता है कि अन्य जटिल हुनरों (जैसे, शल्य-चिकित्सा के यांत्रिकी पहलू, सारंगी-वादन, विवरण-पुस्तिका एवं सूचीपत्र-को पढ़कर उनका उपयोग कर लेना, आदि) को उसी तरीके से क्यों नहीं सीखा जा सकता है।

उपयुक्त-उत्प्रेरित (Well-motivated) विद्यार्थी को, कि जिसे खास बाधा के अन्तर्गत परिश्रम नहीं करना हो तो उसे किसी मानव-सहयोग की आवश्यकता कतई नहीं है, सिवाय उस व्यक्ति के सहयोग की, जो विद्यार्थी की मांग पर वह सब प्रदर्शित कर सके जिसे विद्यार्थी स्वयं करना सीख लेना चाहता है। शिल्पज्ञों (Skilled People) से यह अपेक्षा की जाना कि अपने हुनर के प्रदर्शन करने के पूर्व उन्हें अध्यापक की तरह प्रमाणित होना होगा—यह इस जिद्द का प्रतिफल है कि या तो लोग वह सब सीखते हैं जिसे वे जानना नहीं चाहते या कि सब लोग—वे भी जो किसी विशेष बाधा से ग्रस्त हैं—अपनी जिंदगियों के किसी निश्चित क्षण में ही, और विशेषकर किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों के अन्तर्गत ही कतिपय चीजों को सीखना चाहते हैं।

मौजूदा शैक्षिक क्षेत्र में हुनरों (Skills) की कमी होने का सबब यह 'संस्थायी अर्हरता' ("क्वालिफिकेशन") है जिसके अन्तर्गत शिल्पकार अपने शिल्प-कौशल का प्रदर्शन तब तक नहीं कर सकते जब तक उन्हें जनता का विश्वास किसी "सार्टिफिकेट" के द्वारा मिला हुआ न हो। हमारा आग्रह यह रहता है कि उन्हें, जो दूसरों को किसी शिल्प के सीखने में मदद करते हैं, उन्हें, ज्ञानप्राप्ति-की-कठिनाईयों (Learning difficulties) को पहचानने की, और हुनर सीखने हेतु महात्वाकांक्षी बनाने के लिए लोगों को उत्प्रेरित करने की

तरीकोंवें भी ज्ञात होना चाहिये। बहरहाल, हमारी अपेक्षा रहती ही है कि उन्हें पंडित (Padagogues) होना ही चाहिये। वे लोग जो हुनरों का प्रदर्शन कर सकते हैं; वे बहुतायत में तभी मिल सकते हैं जब हम उन्हें शिक्षायी व्यवसाय के अन्य अनेकों कामकाजों में उनकी पहचान को मान्यता दें।

जहाँ राजकुमारों को पढ़ाया-सिखाया जाता है, वहाँ पर माता पिता का आग्रह–कि शिक्षक और शिल्पज्ञ एक ही व्यक्ति में समाया हुआ हो–मान लिया जा सकता है यद्यपि अब उसे दृढ़ आग्रह नहीं कह सकते। लेकिन सभी माता-पिताओं की यह अभिलाषा, कि उनके एलेक्जेंडर के लिए एरिस्टॉटल मिले ही, यह प्रत्यक्षतः स्वयं-पराजयी (Self-defeating) है। ऐसे व्यक्ति जो विद्यार्थी को प्रेरित भी कर सके और किसी तकनीक का स्वयं प्रदर्शन भी कर सके इतने दुर्लभ हैं, और उन्हें चीन्हना खोजना भी इतना मुश्किल है, कि राजकुमारों को भी दार्शनिक की अपेक्षा अक्सर सूफी ही मिलता है।

दुर्लभ हुनरों (Skills) की माँग की पूर्ति उस स्थिति में भी जल्दी-जल्दी की जा सकती है कि जब उनका प्रदर्शन करने वाले लोगों की संख्या अत्यंत छोटी-सी हो, लेकिन ऐसे लोग आसानी से उपलब्ध तो होने चाहिये। सन् 1940-50 के दशक में रेडियो मैकेनिक (कि जिनमें से अधिकांश को अपने काम के बाबत् कोई स्कूली -प्रशिक्षण हासिल नहीं था), लेटिन-अमेरिका के गाँव-गाँव में रेडियो के पहुँचने के सिर्फ दो वर्ष के भीतर ही जा धमके थे। वहाँ वे लोग खूब जमे, लेकिन ट्रांसिस्टर (जो दाम में कम किन्तु मरम्मत में असंभव थे) की घुसपैठ होते ही उनका धन्धा चौपट हो गया। आज वास्तव में तकनीकी स्कूल उस प्रवीणता को हासिल करने में बिलकुल नाकामयाब सिद्ध हुए हैं कि जो उतने ही बराबर उपयोगी और ज्यादा टिकाऊ रेडियो-सेटों के मैकेनिकों ने हासिल की थी।

सिकुड़ा हुआ निहित-स्वार्थ आज ऐसा षड्यंत्र उत्पन्न करता है कि जिसके कारण आदमी अपने हुनर के विस्तार को रोकता है। वह आदमी कि जिसके पास हुनर-विद्या है वह उसकी वृद्धि से नहीं बल्कि उसकी "दुर्लभता" से लाभ उठाता है। शिक्षक, जिसने हुनर को संचारित करने की विशेषज्ञता हासिल की है वह शिल्पज्ञ द्वारा अपने स्वयं के प्रशिक्षणार्थियों को मैदान में तैयार करने की अनिच्छा का लाभ उठा रहा है जनता को इस प्रकार भ्रमित रखा जाता है कि वे ऐसा ही मानते रहें कि हुनर तभी बहुमूल्य और विश्वसनीय होते हैं जब वे औपचारिक-स्कूली-शिक्षण से ही हासिल किये गये हों। रोजगार-बाजार हुनरों को कम रखा रहने देने तथा दुर्लभ बनाये रखने पर निर्भर है और ऐसा करने के लिए दो तरह के तरीके अपनाये जाते हैं–पहला : बिना सर्टिफिकेट हुनरों के उपयोग-और-प्रचलन को नाजायज करार देकर; अथवा दूसरा : ऐसी वस्तुओं का निर्माण करके कि जिनका संचालन एवं मरम्मत सिर्फ वो ही कर सकें कि जिनकी पहुंच दुर्लभ रखे गये औजारों तथा तकनीकी-सूचनाओं तक हो सके।

इस प्रकार स्कूल शिल्पकारों (Skilled Persons) का अभाव पैदा करता है। एक अच्छा उदाहरण यह है कि सं. रा. अमेरिका में नर्सों की संख्या घट रही है, कारण यह कि नर्सिंग के चार वर्षीय बी. एस. प्रशिक्षण प्रोग्रामों की तेज वृद्धि कर दी गयी है। गरीब परिवार की महिलाएं जो पहले दो या तीन वर्षीय प्रोग्रामों में शामिल हो जाती थीं, अब नर्सिंग व्यवसाय में बिलकुल भी नहीं आ पा रही हैं।

शिक्षकों के लिए प्रमाण-पत्रों की अनिवार्यता ने भी हुनरों का अभाव किया है। यदि नर्सों को ही अन्य महिलाओं को नर्सिंग का प्रशिक्षण देने हेतु प्रोत्साहित किया जाता, और यदि इंजेक्शन लगाने, चार्ट भरने तथा दवाईयां देने में सिद्धहस्तता के आधार पर उन्हें नौकरियां दे दी जाती तब शीघ्र ही प्रशिक्षित नर्सों का अभाव दूर हो जाता। अपने ज्ञान को दूसरों में फैलाने के नागरिक अधिकार को स्कूली-सेवकों को ही प्राप्त अकादमीय-स्वतंत्रता के विशेषाधिकार में तब्दील करके, आज सर्टिफिकेट-पद्धति शिक्षा की स्वतंत्रता को संकुचित करने की ओर झुक रही है। हुनरों के प्रभावशाली विनिमय की ओर पहुंचने की गारंटी पाने के लिए हमें ऐसे विधान की जरूरत है जो अकादमीय-स्वतंत्रता को समाप्त कर दे। किसी हुनर की शिक्षा देने के अधिकार को बोलने की स्वतंत्रता के अधिकार में अंतर्वस्तु कर दिया जाना चाहिये। जब एक बार शिक्षण (teaching) पर प्रतिबंध हटा दिये जायेंगे तब वे सीखने (Learning) पर से शीघ्र हट जायेंगे।

हुनरों-के-शिक्षक को किसी छात्र को अपनी सेवाएं प्रदान करने के एवज में पारिश्रमिक तो देना होगा। गैर-प्रमाणपत्रधारी शिक्षकों को सार्वजनिक मद में से धन देने की शुरूआत करने के कम-से-कम दो सरल तरीके हो

सकते हैं। पहला इस तरह हो सकता है कि मुक्त सार्वजनिक-हुनर-केन्द्र (Skil cen-
tre) खोलकर हुनर-विनिमय (हुनरों के आदान-प्रदान) का संस्थानीकरण कर दिया
जाये। ऐसे केन्द्र औद्योगिक क्षेत्र में ही स्थापित किये जा सकते हैं—कम से कम
ऐसे हुनरों (Skills) के लिए जो कुछ खास प्रशिक्षणों में दाखिले के लिए बुनि-
यादी तौर पर प्राथमिक-रूप से जरूरी हैं—जैसे कि, पढ़ना, टाइप करना, हिसाब
रखना, विदेशी भाषाएं जानना, कंप्यूटर प्रोग्रामिंग व नम्बर-आकलन (Computer
Programming and number manipulation), विद्युत्-परिपथ आदि की
विशेष भाषा को पढ़ना (reading special languages such as that of
electric circuits), कतिपय मशीनरी में अंदाजिया मेल बिठाना (manipulation
of certain machinery), आदि। दूसरा तरीका हो सकता है कि आबादी
के मध्य स्थित किन्हीं विशेष समूहों को हुनर-केन्द्रों पर उपस्थिति देने के लिए
पर्याप्त "एजुकेशनल करेंसी" दी जाये जबकि अन्य मुवक्किलों को कमर्शियल
दरें देना होगा।

ज्यादा बड़ा क्रांतिकारी तरीका यह होगा कि हुनर-विनिमय केन्द्र के
लिए एक "बैंक" बनाया जाये। प्रत्येक नागरिक को बुनियादी हुनरों के ज्ञान
को हासिल करने के लिए न्यूनतम रकम दी जाये। इस न्यूनतम रकम से ज्यादा
बड़ी रकम सिर्फ उन्हें ही दी जाये जो उस राशि को शिक्षण के एवज में कमायें,
चाहे संगठित हुनर-केन्द्रों पर माडल के रूप में सेवा करके, अथवा अपने घर
में प्रायवेट पढ़ा कर, या किसी मैदान पर खेल-कूद सिखाने का काम करके।
सिर्फ उन्हें ही जिन्होंने किसी समतुल्य समय की मात्रा खर्च करके दूसरों को
पढ़ाया हो उन्हें ही ज्यादा उन्नत शिक्षकों के समय के मूल्य के बराबर रकम
पाने का अधिकार मिले। एक सर्वथा नया श्रेष्ठिवर्ग (elite) आगे बढ़ेगा, वह
उन लोगों का श्रेष्ठिवर्ग होगा जिन्होंने अपनी शिक्षा सहभागिता में हासिल की।

क्या माता-पिताओं को अपने बच्चों के लिए हुनर सीखने हेतु अनुदान
(Skill credit) पाने का अधिकार मिलना चाहिए? चूंकि इस प्रकार का
विन्यास संपन्न वर्गों को ही ज्यादा बड़ा लाभ प्रदान करेगा, अतः उसे संतुलित
करने के एवज में विपन्न वर्गों को ज्यादा बड़ी रकम अनुदान करना होगा।
किसी हुनर-विनिमय का संचालन ऐसे माध्यमों के अस्तित्व पर निर्भर रहेगा
जो विवरण-सूचना-पुस्तिकाओं के विकास को सुगम बनाये और उनके मुक्त
उपयोग को आश्वस्त करे। इस प्रकार का कोई माध्यम परीक्षण और प्रमाणी-

करण की सहयोगी सेवाओं को भी प्रदान करेगा, और ऐसे विधान को मनवाने में सहायक होगा जो एकाधिकारी प्रवृत्तियों को रोकने व तोड़ने हेतु जरूरी हों।

मूल रूप से, किसी सार्वभौम हुनर विनिमय की स्वतंत्रता ऐसे कानूनों से सुदृढ़ होना चाहिये जो किसी शिक्षार्थी अंकतालिका के आधार पर नहीं बल्कि सिर्फ जांचे-परखे हुनरों के आधार पर ही भेद-भाव की अनुमति दे। इस प्रकार की गारंटी के लिए उन परीक्षणों पर सार्वजनिक नियंत्रण जरूरी है जो रोजगार बाजार में लोगों की योग्यता बतलाने के उपयोग में आ सकें। अन्यथा, रोज-गार के स्थानों पर ही जटिल परीक्षण-श्रृंखलाओं को गोपनीय ढंग से पुनः लागू करना होगा जो कि सामाजिक चुनाव करने के काम आयेंगे। ऐसा बहुत कुछ किया जा सकता है ताकि हुनर-परीक्षण वस्तुनिष्ठ हो सके, उदाहरणार्थ, परीक्षण वाली विशिष्ट मशीनों को या तंत्रों को ही चलने देना। टाइपिंग का परीक्षण (स्पीड, गलतियों की संख्या, और डिक्टेशन लेने की क्षमता के आधार पर), हिसाब-किताब (accounts) की प्रणाली या हाइड्रोलिक क्रेन की कार्य-विधि का परीक्षण, अथवा ड्राइविंग का परीक्षण, या कोडिंग-डिकोडिंग का परी-क्षण आसानी से वस्तुनिष्ठ बनाया जा सकता है।

वास्तव में अनेक सच्चे व्यावहारिक हुनरों का इसी तरह परीक्षण किया जा सकता है। और फिर, जनशक्ति नियोजन के कामों के लिये तात्कालीन हुनर-कौशल के स्तर का परीक्षण ज्यादा ही उपयोगी है बजाय कि किसी व्यक्ति के बाबत् इस जानकारी (सर्टिफिकेट) को देखकर कि वह टाईपिंग, शार्टहैंड और अकाउंटिंग पढ़ाये जाने वाले किसी पाठ्यक्रम में अपने शिक्षक को संतुष्ट किया हुआ है। सरकारी हुनर-परीक्षण की मूल जरूरत पर ही प्रश्नचिन्ह लगाया जा सकता है। मेरा अपना निजी मत है कि लेबल-लगाने के द्वारा मनुष्य की प्रति-ष्ठा को जैसा चोट पहुंचाने से निजात तभी मिल सकती है कि जब उसकी सक्षमता के परीक्षणों को लाभ देने के बजाय उन्हें वर्जित किया जाये।

(3) सहपाठियों का सुमेल (Peer Matching)

स्कूलों की सबसे निकृष्टतम बात यह है कि वे सहपाठियों को एक ही कमरे में घेरे रहते हैं और उन पर गणित, नागरिक शास्त्र और भाषा के अभ्यास की एक जैसी परिपाटी थोपे जाते हैं। स्कूलों की कोई अच्छी बात ये ही सकती है कि वे गिने-चुने पाठ्य-विषयों में से किसी एक का चुनाव करने की अनुमति विद्यार्थी को देते हैं। किसी भी हालत में, शिक्षकों के लक्ष्यों के इर्दगिर्द सम

कक्षों (Peers) के समूह बनते जाते हैं। लेकिन वांछित शिक्षा-प्रणाली यह होगी
जो प्रत्येक व्यक्ति को उस गतिविधि की समता-व-सीमा दर्शाने देगी कि जिसके
लिए वह किसी समकक्ष को खोजता है।

स्कूल निश्चय ही बच्चों को अवसर देते हैं कि वे अपने घरों से बाहर
निकल सकें ताकि अपने दोस्तों से मिलना हो। लेकिन, उसी के साथ-साथ यह
तरीका बच्चों का मतविभाजन इस अभिप्राय के जरिये करता है कि वे अपने दोस्तों
का चुनाव सिर्फ उन्हीं में से करें कि जिनके साथ उन्हें रखा गया है। बचपन के
वक्त से ही किशोरों को—अपने साथियों से मिलने, उन्हें आँकने और उन्हें चुन
लेने के आकर्षण उपलब्ध करा देने से वे नये उद्यमों के लिये नये सहयोगियों को
खोजने के जीवन पर्यन्त कौतुक के लिए तैयार होंगे।

किसी अच्छे शतरंज-खिलाड़ी को एक बढ़िया प्रतिद्वन्दी, और किसी नव-
किशोर को दूसरा सुमेल नव-किशोर चुन लेने में अक्सर प्रसन्नता होती है। उनसे
में उनका प्रयोजन पूरा होता है। लोग कि जो विशिष्ट पुस्तकों या लेखों पर
चर्चा करना चाहते हैं वे बहस-के-साथियों को खोजने के लिए कदाचित् खर्च भी
करेंगे। लोग कि जो खेल खेलना चाहते हैं, या पर्यटन पर जाना चाहते हैं,
मछली-का-ताल बनाना चाहते हैं, या बाइसिकल-में मोटर लगाना चाहते हैं,
वे बहुत विस्तार और गहराई में जाकर समकक्ष (Peers) खोजेंगे। अच्छे स्कूल
एक-जैसे प्रोग्रामों में पंजीकृत अपने छात्रों की समान अभिरुचियों को सामने लाने
का प्रयास करते हैं। स्कूल का विकल्प कोई ऐसी संस्था होगी जो उन अवसरों को
बढ़ायेगी जिनके अन्तर्गत वे लोग जो किसी निश्चित समय पर एक-समान विशि-
ष्टता में रुचि रखते हों वे मिल सकें—भले ही इसके अतिरिक्त उनमें कुछ भी
एक-जैसा न हो।

हुनर-शिक्षण दोनों पक्षों के लिए समान लाभ प्रदान नहीं करता जैसा कि
समकक्षों (Peers) का सुमेल करता है। हुनरों-के-शिक्षण-को, जैसा कि मैंने
बताया, शिक्षण के पारिश्रमिक के अतिरिक्त भी अमूमन कुछ प्रोत्साहन
(incentive) दिया जाना चाहिए। हुनर-शिक्षण एक-जैसे अभ्यास का बार-बार
दोहराना है, और वास्तव में ही, उन शिष्यों के लिये अत्यंत बोझिल है कि
जिनको ही उसकी सर्वाधिक जरूरत है। किसी हुनर-विनिमय को अपने संचालन
के लिए धन या लाभ या अन्य प्रकट-प्रोत्साहनों की जरूरत है चाहे यह विनिमय
अपने स्वयं के मुद्रा-प्रसार को चलाये। किसी समकक्ष सुमेल प्रणाली (peer-

matching system) को ऐसे किसी प्रोत्साहन की जरूरत नहीं है, उसे तो सिर्फ
एक सूचना-संचार-नेटवर्क चाहिए।

टेप, मरम्मत से पुनः सुधारने योग्य प्रणालियाँ, प्रोग्राम-बद्ध शिक्षण, और
कथाकारों एवं ध्वनियों का पुनरुत्पादन—ये सब काम अनेक हुनरों के जानकार
मानव-शिक्षकों के सहारे की जरूरत को कम करने की ओर प्रवृत्त होते हैं, वे
शिक्षकों की और अनेकानेक हुनरों की (कि जिन्हें अपने पूरे जीवनकाल में
कोई उपयोग में लेता है उनकी) कार्यक्षमता की वृद्धि करते हैं। इसी के समा-
नांतर नये सीखे हुए हुनर के उपयोग में दिलचस्प लोगों से मिलने की बढ़ती
हुई मांग जारी रहती है। किसी विद्यार्थी ने जिसने छुट्टियों के दिनों में ग्रीक
भाषा सीखी हो वह घर लौटने पर क्रैटन-राजनीति की बात ग्रीक भाषा में
करना चाहेगा। न्यूयार्क में कोई मैक्सिकी व्यक्ति "सिमप्रे" अथवा "लॉस
एगाशाकोस" जैसी अत्यंत लोकप्रिय धार्मिक पुस्तकों के अन्य पाठक खोजना
चाहता है। तो कोई अन्य व्यक्ति अपनी ही तरह से उन समकक्षों (Peers) से
मिलने को इच्छुक होता है जो बोलिवर की या जेम्स बाल्डविन की कृतियों में
अपनी रुचि को तराशना चाहता हो।

समकक्ष-सुमेल प्रणाली (Peer matching network) के संचालन को
सरल होना होगा। उसका उपयोगकर्ता नाम और पते के द्वारा अपनी पहचान
दर्शाएगा और उस गतिविधि का वर्णन करेगा जिसके लिए उसने किसी समकक्ष
(Peer) की चाहना की हो। कम्प्यूटर उन सभी के नाम और पते वापस भेजेगा
कि जिन्होंने यही विवरण उसमें भरा था। यह अचरज की बात है कि इतनी
सरल उपयोगिता को सार्वजनिक मूल्यवान गतिविधि के लिए वृहद पैमाने पर
काम में क्यों नहीं लिया गया।

अपने अत्यंत अनगढ़ रूप में, उपयोगकर्ता के और कम्प्यूटर के दरम्यान
वाले सम्प्रेषण को लौटती डाक वाली प्रणाली द्वारा हासिल किया जा सकता है।
बड़े नगरों में टाईपराइटरों के टर्मिनल सटपट-जवाब उपलब्ध करा दे सकते हैं।
कम्प्यूटर से किसी नाम और पते को निकाल ढूंढने के लिए एकमात्र तरीका
यह होगा कि उस गतिविधि की लिस्ट भर दी जाये कि जिसके लिए किसी
समकक्ष (Peer) को चाहा गया है। इस प्रणाली के उपयोग करने वाले अपने-
अपने संभाव्य समकक्षों (Peers) को जान लेंगे।

बुलेटिन बोर्ड और वर्गीकृत अखबारी-विज्ञापन उन गतिविधियों की लिस्ट

भर कर (जिनके लिए कम्प्यूटर कोई सुमेल प्रस्तुत नहीं कर पाता हो) कम्प्यूटर के संपूरक बन सकते हैं। किन्हीं भी नामों को देने की जरूरत नहीं है। दिलचस्पी रखने वाले लोग उनको पढ़कर उस प्रणाली में अपने-अपने नाम जोड़ देंगे। सर्वजन-समर्थित एक समकक्ष-सुमेल नेटवर्क आजादी के साथ एकत्र होने के अधिकार की और इस अत्यंत बुनियादी नागरिक-कार्य के अभ्यास हेतु लोगों का शिक्षण करने की गारंटी का एकमात्र तरीका हो सकता है।

मुक्त रूप से एकत्र होने का आजादी का अधिकार राजनीतिक रूप से मान्य एवं सांस्थानिक तौर से स्वीकृत हो चुका है। हमें अब सबक लेना चाहिए कि यह अधिकार एकत्र-करने के कतिपय प्रकारों को अनिवार्य बनाने वाले कानूनों द्वारा घटा दिया गया है। उन संस्थाओं के मामले में यह विशेषकर हुआ है जो लोगों को आयु-समूह, वर्ग या योनि के अनुसार जबरन-भर्ती करती हैं और जो बहुत ज्यादा रक्त बहाऊ है। फौज एक दृष्टांत है। स्कूल दूसरा दृष्टांत है जो ज्यादा ही क्रूर है।

स्कूल-भंग करने का अर्थ हुआ कि किसी व्यक्ति के उस अधिकार को भंग कर देना जो अपने द्वारा दूसरे व्यक्ति को किसी सम्मेलन (meeting) में शामिल करने को अनिवार्य बनाता हो। उसका यह भी अर्थ हुआ कि किसी भी आयु या योनि के किसी भी व्यक्ति को सम्मेलन (meeting) बुलाने का अधिकार हो। यह अधिकार सम्मेलनों (meetings) का संस्थाकीकरण करके बुरी तरह घटा दिया गया है। "सम्मेलन" (meeting) का मूलतः तात्पर्य था : किसी व्यक्ति के द्वारा लोगों को एकत्र करने का परिणाम। अब उससे ऐसा भान होता है जैसे वह किसी एजेन्सी का संस्थागी उत्पाद हो।

व्यक्तियों की योग्यता (कि उनकी बातें संस्थागी-माध्यम के बिना ही सुनी जा सकें) को बहुत पीछे छोड़ती हुई सेवा-संस्थाओं की योग्यता (कि जिसके द्वारा "ग्राहकों" को समेटा जा सके) अब इतना आगे बढ़ गई है कि वह व्यक्तियों को तरजीह सिर्फ तभी देती है कि जब वे बेची जा सकने वाली खबरें हों। समकक्ष-सुमेल (peer-matching) करने की सुविधाएं इन सभी व्यक्तियों के लिये इतनी आसानी से उपलब्ध होना चाहिये जो लोगों को एक-साथ ऐसे ले आना चाहते हों जैसे एक हाँक से गाँव वाले सभा करने के लिये इकट्ठे हो जाते हैं। (सभा-भवन जो अन्य उपयोगों में बदलने पर संदेहास्पद मूल्य का हो जायेगा) इसी काम में अकसर लिया जा सकेगा।

स्कूल प्रणाली को वास्तव में, शीघ्र ही ऐसी किसी समस्या का सामना करना पड़ सकता है जो पहले चर्च के सामने आई थी : उस अतिरिक्त स्थान का क्या किया जाए जो विश्वास-पात्रों के धर्म त्याग से उत्पन्न हुआ। मन्दिरों की तरह ही स्कूल भी मुश्किल से आकर्षक हैं। उनके निरन्तर उपयोग के लिए, एक तरीका यह हो सकता है कि पास-पड़ोसी लोगों को स्थान दे दिया जाये। प्रत्येक कह सकता है कि वह क्लासरूम में कब और क्या करेगा, और पूछताछ करने वालों की जानकारी हेतु एक बुलेटिन-बोर्ड पर उपलब्ध कार्यक्रम प्रस्तुत रहेंगे। "कक्षा" में पहुंच मुफ्त होगी -या शैक्षिक बीजकों (educational vouchers) से दाखिला मिलेगा। "शिक्षक" को भी किसी दो-घण्टे के पीरियड के लिये अपनी ओर आकर्षित कर लिये गये शिष्यों के आधार पर रकम दी जा सकती है। मैं कल्पना कर सकता हूं कि दो तरह के लोग (अत्यन्त जवान नेतागण और महान् शिक्षाविद) इस तरह की प्रणाली में एकदम प्रमुख रहेंगे। इसी तरह का रुख उच्च-शिक्षा के लिये भी अपनाया जा सकता है। छात्रों को ऐसे शैक्षिक बीजकों (educational vouchers) से लैस किया जा सकता है कि जिससे उन्हें अपनी पसन्द के शिक्षकों से दस घण्टे प्रति-वर्ष के प्रायवेट सलाह मशविरे की हकदारी मिले-और शेष ज्ञानप्राप्ति के लिये वे पुस्तकालय, समकक्ष-सुमेल नेट वर्क (peermatching Network) और अप्रेंटिशिप पर निर्भर रह सकते हैं।

यद्यपि, हमें इस बात के अन्देशे को ध्यान में रखना होगा कि इस प्रकार की सार्वजनिक सुमेल-युक्तियां शोषण तथा अनैतिक कार्यों के दुरुपयोगों में लगाई जायेंगी, जैसा कि टेलीफोन और डाक-सेवाओं का हुआ है। उन्हीं नेटवर्कों की तरह, यहां भी किसी तरह के संरक्षण की जरूरत लगेगी। मैंने, अन्यत्र किसी ऐसे सुमेल को सेट करने की प्रणाली का प्रस्ताव रखा है जो केवल प्रासंगिक प्रकाशित-सूचना को, और साथ ही प्रश्नकर्ता के नाम और पते की जानकारी का उपयोग करने की अनुमति देगी। इस तरह की प्रणाली दुरुपयोग के खिलाफ एकदम मजबूत होगी। अन्य व्यवस्थाएँ किसी भी पुस्तक, टी वी प्रोग्राम अथवा किसी विशेष सूचीपत्र (catalogue) में उल्लेखित विवरण के सहयोग की अनुमति दे सकती है। प्रणाली के खतरों के बावत् इतनी चिन्ता कतई नहीं रखनी चाहिये कि जो उस प्रणाली से होने वाले अत्यन्त विशाल फायदों पर से आंखें मुंदवा दें।

वे कुछ लोग जो भाषण करने और इकट्ठे होने की आजादी के बारे में मेरी चिन्ता से सरोकार रखते हैं वे तर्क रखेंगे कि समकक्ष-सुमेल (peer-matching) लोगों को इकट्ठा साथ लाने का नकली तरीका हुआ, और यह तो गरीबों के द्वारा उपयोग में लाया ही नहीं जा सकेगा कि जिनको उसकी सख्त जरूरत है। कुछ लोग वास्तव में ईमानदारी से दुश्चिंतित हो सकते हैं कि जब कोई ऐसे किसी तदर्थ किस्म के उपक्रमों को लागू करने का सुझाव रखे जो किसी स्थानीय समुदाय के जनजीवन में जड़ जमाये हुए न हो। लोग सच में भड़क सकते हैं जब कोई सुझाव रखे कि विद्यार्थियों (clients) द्वारा चीन्ही गई दिलचस्पियों को चुनने और सुमेल करने में कम्प्यूटर का उपयोग हो। वे कहेंगे कि लोग इस तरह के अवैयक्तिक तरीके से बांधे नहीं जा सकेंगे। अनेक स्तरों पर सम्मिलित रूप से भोगे अनुभव के किसी इतिहास में ही सर्वनिष्ठ-ज्ञानशोध (common-enquiry) की जड़ें होनी चाहिये, और उसे उसी अनुभव में से ही उभरना चाहिए उदाहरणार्थ "सामूहिक मेलजोल" वाली संस्थाओं (neighbourhood institutions) का विकास इसी तरह होना चाहिए।

मैं इन सब आपत्तियों के प्रति सहानुभूति रखता हूं, लेकिन मैं सोचता हूं वे मेरी मंशा को समझ नहीं पा रहे हैं और अपनी खुद की बात भी समझ नहीं पा रहे हैं, पहली बात तो यह कि "सामूहिक मेलजोल वाले" जीवन (neighbourhood life) का सृजनात्मक-सम्प्रेषण के प्राथमिक केन्द्र के रूप में पुनः स्थापित होना "सामूहिक मेलजोलों" (neighbourhoods) को राजनीतिक इकाईयों के रूप में पुनर्स्थापित होने से रोक सकता है। सच में ही, शहरी जीवन के एक महत्वपूर्ण मुक्ताकारी पहलू, याने किसी व्यक्ति के विभिन्न समकक्ष सुमेल-समूहों (peer-groups) में भाग लेने की योग्यता की उपेक्षा हो सकती है। साथ-ही साथ, एक महत्वपूर्ण भावबोध ऐसा बनेगा कि लोग जो कभी-भी किसी सामुदायिक सान्निध्य में नहीं रहे उनके पास समय-समय पर परस्पर उपभोग के लिये इतने सारे अनुभव हो सकते हैं जितने उनके पास नहीं हो सकते जो बचपन से एक-दूसरे को जानते रहे हों। महान् धर्मों ने सदैव दूर-सुदूर के स्थानों की यात्रा-भेंट-मुलाकातों के महत्व को मान दिया है, और विश्वासपात्रों ने उनके जरिये अक्सर मुक्ति प्राप्त की है; तीर्थ, सफ़र, मन्दिरों-मस्जिदों गिरजों-पवित्र स्थानों का परस्पर सहारा-आदि इस चेतना को दर्शाते हैं।

समकक्ष-सुमेल (peer-matching) नगर में बसे हुए, दमित रखे गये कई ओजस्वी समुदायों को मुखर बनाने में उल्लेखनीय सहायता कर सकता है।

स्थानीय समुदाय बहुमूल्य हैं। जैसे जैसे मनुष्य उन समुदायों के सामाजिक-सम्बन्ध के दायरों को सेवा-संस्थाओं के द्वारा परिभाषित होने देते हैं वे मिटती हुई सचाई बनते जाते हैं। मिल्टन कोटलर ने अपनी ताजा पुस्तक में दर्शाया है कि "व्यापार और दुकानदार" का साम्राज्यवाद "मेलजोल" ('neighbourhood') को उसके राजनीतिक-महत्व से वंचित करता है। किसी सांस्कृतिक इकाई के रूप में "मेलजोल" (neighbourhood') की पुनर्स्थापना के बचाव-पक्षी प्रयास से इस नौकरशाही साम्राज्यवाद का समर्थन ही होता है। मनुष्यों को बनावटी-तौर पर उनके स्थानीय संबंधों से वंचित करते हुए अमूर्त समूहनों में शामिल करने वाली प्रक्रिया के बजाय नगरों में विलुप्त होती हुई स्थानीय जिंदगी को वापस पुनर्स्थापित करने का प्रयास समकक्षों-के-सुमेल द्वारा प्रोत्साहित होना चाहिये। यदि आदमी अपने साथियों को किसी सार्थक संवाद में शामिल कराने के लिए फिर-से उत्साहित हो जाये तो फिर वह दफ्तरी-शिष्टाचारवश या उपनगरीय आचार-व्यवहारवश उनसे विलग होने के लिए आगे कभी-भी राजी नहीं होगा। एक बार यदि यह अनुभव हो जाये कि एक-साथ काम करना वैसा करने की ठान लेने पर निर्भर है, तो लोग अपने स्थानीय समुदायों को ज्यादा खुले सृजनात्मक राजनीतिक आदान-प्रदान करने का आग्रह कर सकते हैं।

हमें इस बात को जान लेना चाहिए कि नागरी-जीवन जबर्दस्त महंगा होने की ओर प्रवृत्त होता है क्योंकि नगर-वासियों को उनकी हरेक जरूरतों के लिए जटिल संस्थायी सेवाओं पर निर्भर रहना सिखाया जाता है। अत्यंत न्यूनतम स्तर पर जीने योग्य बनाये रखने के लिए भी यह अत्यधिक महंगा होता है। नगर में नौकरशाही नागरिक सेवाओं पर नागरिकों की निर्भरता को तोड़ने के लिए समकक्ष-सुमेल (Peer-matching) पहला कदम हो सकता है।

यह सार्वजनिक विश्वास स्थापित करने के लिए नये तरीकों को उपलब्ध कराने का एक आवश्यक कदम भी हो सकता है। एक स्कूलकृत (Schooled) समाज में, यह निश्चय करने के लिए कि हम किस पर विश्वास करें किस पर न करें, शिक्षाकारों के व्यावसायी विवेचन पर—उनके अपने ही काम के असर के

यावत् —हम अधिकाधिक निर्भर होते गये हैं-हम डॉक्टर, वकील या मनो-विश्लेषक के पास जाते हैं क्योंकि हम मानते हैं कि कोई भी कि जो उसके अन्य साथियों द्वारा प्रदत्त आवश्यक विशेषीकृत शिक्षायी उपाय प्राप्त किया हुआ है वह हमारा विश्वासपात्र है।

किसी स्कूल-विहीन समाज में व्यवसायीजन (Professionals) अपने एकाधिकारी-अभिजात्य के आधार पर अपने मुवक्किलों (Clients) के विश्वास को हासिल नहीं कर सकते, अथवा अन्य व्यवसायीजनों का संदर्भ देकर जिन्होंने उनके संस्थायी-अभ्यास (Schooling) का अनुमोदन किया हो, वे अपने दावे को पुख्ता नहीं कर सकते। व्यवसाइयों (Professionals) का भरोसा कर लेने की अपेक्षा, किसी जरूरतमंद मुवक्किल के लिए, किसी भी समय, यह संभव होना चाहिये, कि वह कम्प्यूटर या किन्हीं अन्य बहुतेरे तरीकों से सेट किये गये किसी दूसरे समकक्ष-सुमेल नेटवर्क (Peer-matching Net work) के द्वारा किसी व्यवसायी (Professional) से "इलाज" करवाये हुए अन्य मुवक्किलों से यह पता चलाये और आश्वस्त हो कि उस "व्यवसायी" से "इलाज" करवाया जा सकता है। इस तरह के नेटवर्क की कल्पना ऐसी सार्वजनिक उप-योगिता की तरह की जानी चाहिये जो छात्रों को अपने शिक्षक या मरीजों को अपने इलाजकर्ता चुनने की सहूलियत प्रदान करें।

(4) व्यवसायी शिक्षाकार

अब चूँकि नागरिकों के पास नये विकल्प हैं, तो ज्ञानप्राप्ति के लिये नये अवसरों के प्रति और नेतृत्व स्वयं खोजने--की--इच्छा के प्रति उनकी सहमति बढ़ेगी। हम आशा कर सकते हैं कि वे अपनी स्वतंत्रता को और मार्गदर्शन हेतु अपनी जरूरत को, दोनों को ही, ज्यादा गहराई से महसूस करेंगे। जैसे-जैसे वे दूसरों की अटकलबाजियों की गिरफ्त से मुक्त होते जायेंगे, वैसे-वैसे वे दूसरों के द्वारा समूचे जीवन भर में हासिल किये हुए उनके ज्ञान से लाभ लेना सीख लेंगे। शिक्षा की स्कूल-मुक्त ऐसे लोगों की तलाश को, अवरुद्ध करने की अपेक्षा, बढ़ावा देगी जिनमें व्यवहारबोध होगा और जो नये आगंतुक (छात्र) में शिक्षायी-एडवेंचर को जारी रहने देगा। जैसे-जैसे कला-कौशल के उस्ताद अपने को शीर्षस्थ जानकर होने का या, श्रेष्ठतर हुनर-ज्ञानी होने का दावा त्यागते जायेंगे, वैसे-वैसे उच्चस्तरीय ज्ञान-विवेक का उनका दावा सच्चा होना प्रारंभ होता जायेगा।

उस्तादों (masters) की माँग बढ़ने पर उनकी पूर्ति भी करना होगी। स्कूल मास्टर के लुप्त होते ही ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न होंगी जिनसे स्वतंत्र शिक्षा-कार का व्यवसाय उभर-उभर आयेगा। इससे तो नई अवधारणा के दावों का खंडन होता-सा लगेगा, क्योंकि स्कूल और शिक्षक इतने ठोस रूप से परस्पर-पूरक बन गये हैं। फिर भी, एकदम यही वह घटना है जो प्रथम तीन शिक्षायी आदान प्रदान के विकास का प्रतिफल होगी—और उनके समूचे दोहन को होने देने के लिए यह जरूरी भी है-क्योंकि अभिभावकों और "सहज शिक्षाकारों" को दिशानिर्देश चाहिये, व्यक्तिगत प्रशिक्षणार्थियों को सहायता चाहिये, और नेटवर्क्स को उन्हें चलाने वाले लोग चाहिये।

अपने बच्चों की उत्तरदायी शैक्षिक स्वतंत्रता की ओर जाने वाली राह पर पथ-प्रदर्शन करने के लिए माता-पिताओं को दिशानिर्देश मिलना जरूरी है। विद्यार्थियों को कि जब वे कठोर धरती पर बढ़ें तब उन्हें अनुभवी नेतृत्व का सहारा आवश्यक है। ये दोनों आवश्यकताएं एकदम स्पष्ट हैं: पहली जरूरत शिक्षा के लिए है, दूसरी जरूरत ज्ञान के अन्य सभी क्षेत्रों में बौद्धिक नेतृत्व के लिए है। पहली जरूरत मानवी सीख के और शिक्षायी स्रोत के ज्ञान की, और दूसरी जरूरत किसी भी तरह के अनुसंधान यावत् अनुभव पर आधारित विवेक की माँग करती है। प्रभावशाली शिक्षायी उद्यम के लिए दोनों तरह की जरूरतें अपरिहार्य हैं। पाठशालाएं इन कर्मों (function) को एक ही भूमिका में कस देती हैं—और इनमें से किसी भी एक के स्वतंत्र अभ्यास को, हालांकि बदनाम तो नहीं, लेकिन संदेहास्पद जरूर बना डालती है।

वास्तव में, तीन तरह की विशेष शिक्षायी क्षमताओं को उल्लेखनीय मानना चाहिये; पहली वह कि जो ऊपर दर्शाये गये शिक्षायी आदान-प्रदानों या नेटवर्क्स का सृजन और संचालन करे, दूसरी वह जो इन नेटवर्कों के यावत् छात्रों और माता-पिताओं का मार्गदर्शन करे, और तीसरी वह जो मुश्किल बौद्धिक अन्वेषी खोजों का बीड़ा उठाने में किसी समझदार ग्रुप-लीडर (Primus inter pares) की भूमिका निभाये। सिर्फ प्रथम दो, किसी स्वतंत्र व्यवसाय की शाखाओं की तरह अनुमाने जा सकते हैं और वे हैं— शिक्षायी प्रबंधक और शैक्षणिक सलाह-कार। मेरे द्वारा सुझाये गये नेटवर्क्स का खाका बनाने और उनका संचालन करने में ज्यादा लोगों की जरूरत नहीं पड़ेगी, हालांकि जितने भी लोग लगेंगे

उनमें शिक्षा और प्रबन्ध की उन अत्यंत गहरी समझ का होना जरूरी होगा जो स्कूलों से एकदम भिन्न परिप्रेक्ष में, बल्कि उनके विरोधाभासी परिप्रेक्ष में बनी हुई हो।

जहाँ इस तरह का स्वतंत्र शिक्षायी व्यवसाय उन अनेक लोगों का स्वागत करेगा कि जिन्हें स्कूलों ने बहिष्कृत कर दिया है, वहीं पर वह उन लोगों को भी बेदखल करेगा कि जिन्हें स्कूल 'काबिल' बनाते हैं। शैक्षणिक-नेटवर्कों की स्थापना और संचालन के लिए कुछ डिजाइनरों और प्रशासकों की जरूरत पड़ेगी लेकिन उनकी संख्या और किस्म उतनी और वैसी नहीं होगी कि जितनी और जैसी स्कूलों के संचालन हेतु लगती है। (1) छात्र अनुशासन (2) जन-संपर्क (3) शिक्षकों को मेहनताने पर लगाना, उनकी निगरानी करना और बरखास्त करना: इन तीनों बातों, या उनके प्रतिरूपों के लिए मेरे द्वारा प्रतिपादित नेटवर्कों में कोई स्थान नहीं है। इनके अतिरिक्त पाठ्यक्रम-निर्माण, पाठ्यपुस्तक-खरीदी, मैदानों एवं सुविधाओं का रखरखाव, अथवा अंतरविद्यालयीन खेल-स्पर्धाओं के सुपरविजन के लिए भी इन नेटवर्कों में कोई स्थान नहीं है। चाइल्ड-कस्टडी, लेसन-प्लानिंग, तथा रेकार्ड-कीपिंग, कि जो शिक्षकों का बहुत सारा समय खपा देते हैं, उनकी भी इन एजुकेशनल नेटवर्क्स के संचालन के लिए कोई आवश्यकता नहीं है। इनके बजाय, शैक्षिक जालों (educational webs) के संचालन हेतु किसी म्यूजियम, किसी पुस्तकालय, किसी एक्जिक्यूटिव-एम्प्लायमेंट एजेन्सी, या मेट्रो-होटल के स्टाफ से आज जिस हुनर और प्रवृत्ति की अपेक्षा की जाती उसके कुछ भाग की जरूरत पड़ेगी।

आज के शिक्षायी प्रशासकों को शिक्षकों तथा छात्रों का नियंत्रण इस तरीके से करने की चिंता रहती है कि जिससे अन्य लोगों—ट्रस्टियों, विधायकों एवं निगम अधिकारियों को संतोष हो। नेटवर्क्स के निर्माताओं एवं उनके संचालकों को अपने स्वयं को एवं अन्यों को भी लोगों के आड़े आने से दूर रखते हुए छात्रों, हुनर-ज्ञानियों (Skill models), शिक्षायी नेताओं, और शैक्षणिक उपकरणों के दरम्यान परस्पर टकराहटों को सहजता से चलने देने में अपनी प्रतिभा लगानी चाहिये। शिक्षण-कर्म की ओर आकर्षित हुए अनेक लोग अत्यधिक सत्तावादी (authoritarian) हैं, वे इस चुनौती को अंगीकार नहीं कर पायेंगे। शिक्षायी-विनिमयों के जालों को खड़े करने का मतलब होगा कि लोगों के लिए—खासकर युवाओं के लिए-ऐसे उद्देश्यों को हासिल करने को सुविधाजनक बनाना जो लक्ष्य को संभव बनाने वाले ट्रैफिक मैनेजर के आदर्शों के विपरीत हों।

यदि मेरे द्वारा दर्शाये गए नेटवर्क्स उभर कर ऊपर आ जायें तब प्रत्येक छात्र का उसका अपना स्वयं का शिक्षायी-पथ होगा जिसका वह अनुसरण करेगा, और सिर्फ अतीत-निरीक्षण में ही वह किसी जाने चीन्हे कार्यक्रम के लक्षणों को अपनायेगा। बुद्धिमान छात्र समय-समय पर, किसी नए लक्ष्य के निर्धारण के लिए, कठिनाईयों से मुठभेड़ों की जाँच-परख के लिये, सम्भव तौर-तरीकों में से चुनाव करने के लिये व्यावसायिक सलाह-मशविरे (professional advice) की अपेक्षा रखेगा, आज भी अनेक लोग स्वीकार करेंगे कि उनके शिक्षकों ने जो महत्वपूर्ण सेवाएँ उन्हें दी वे वैसी ही सलाहें हैं कि जिन्हें उन्होंने संयोगवश अथवा किसी ट्यूटोरियल के दौरान दी होंगी। किसी शाला-विहीन संसार में भी शिक्षाकार (pedagogues) अपनी बारी पर आकर वैसा कुछ करेंगे कि जिसे हताश-शिक्षक आज हासिल करने का बहाना बना रहे हैं।

जहाँ नेटवर्क-प्रशासक प्राथमिक तौर पर शैक्षिक संसाधनों को सुलभ बनाने की राह को बनाने और सँवारने-संभालने पर जोर डालेंगे वहाँ शिक्षाविद् विद्यार्थी को उस राह को खोजने में सहायता देंगे जिस पर चलकर वह अपने लक्ष्य को शीघ्रता से हासिल कर सके। यदि कोई विद्यार्थी किसी चीनी-पड़ोसी से बोलचाल-वाली चाइनीज भाषा सीखना चाहे तो उनकी दक्षता की जाँच के लिये शिक्षाविद् उपलब्ध होगा, और वह उनकी प्रतिभाओं, उनकी प्रकृतियों, एवं अभ्यास करने हेतु उपलब्ध समय के उपयुक्त पाठ्यपुस्तक एवं विधि का चुनाव करने में उनकी मदद करेगा। वह वायुयान की यंत्रविधि सीखकर मैकेनिक बनने वाले व्यक्ति को अप्रेंटिसशिप करने की श्रेष्ठ जगहें बताने की सलाह देगा। वह अफ्रीकी-साहित्य पर चर्चा-बहस के लिए चुनौती-पूर्ण समकक्षों से भिड़ना चाहने वाले व्यक्ति को पुस्तकें सुझा देगा। नेटवर्क-प्रशासक की तरह ही, शैक्षिक सलाहकार अपने को व्यावसायिक शिक्षा-कार (professional educator) के रूप में ही रखेगा। व्यक्तियों के द्वारा इन दोनों में से किसी तक भी पहुँच के लिए शिक्षायी वौचरों (educational vouchers) का उपयोग किया जा सकता है।

शिक्षायी सर्जक या शिक्षायी नेतृत्व, याने मास्टर अथवा "सच्चे नेता" की भूमिका व्यावसायी-प्रशासक या व्यवसायी-शिक्षाकार की भूमिका की अपेक्षा जरा ज्यादा ही मायावी है। ऐसा इसलिए है क्योंकि नेतृत्व ही मुश्किल से परिभाषित किया जा सकता है। व्यवहार में, कोई व्यक्ति तभी नेता कहलाएगा कि

जब लोग उसकी पहल और उसके विचार का अनुसरण करें एवं उसकी उत्तरो-त्तर तरक्की हासिल करती खोजों–आविष्कारों के लिए उसकी शिष्यवृत्ति ग्रहण करते जावें। इस प्रक्रिया में, बारम्बार उभरने वाले बिलकुल नए स्तरों का मशीहाई स्वप्न गुंथा रहता है –जो कि आज बहुत कुछ समझ में आता है—कि जिसमें वर्तमान 'गलत' भविष्य में "सही" हो जावेगा। किसी समाज में, जो समकक्ष मुमेल के द्वारा लोगों के समूह इकट्ठा करने के अधिकार को मान्यता देगा, उसमें किसी विशिष्ट विषय पर शिक्षायी पहल और अन्वेषण करने की योग्यता, उस विषय को स्वयं सीखने के लिये जितनी ज्यादा गुंजाइश मिलेगी उतनी ही विशाल होगी। लेकिन अवश्य ही, किसी के द्वारा निबन्ध पर बहस करने हेतु एक सार्थक सभा बुलाने के लिए पहल करने, और उस निबन्ध के समूचे आशय को सुनियोजित ढंग से जांचने परखने के लिये किसी के द्वारा नेतृत्व प्रदान करने की योग्यता, में बहुत बड़ा अन्तर है।

नेतृत्व अपने सही होने पर भी निर्भर नहीं है। जैसा कि थामस कुन्ह ने कहा है कि लगातार बदलते आदर्शों के युग में, अनेकानेक प्रख्यात नेता अतीत-दृष्टि की परख से पाये जाने पर गलत साबित हो सकते हैं। बौद्धिक नेतृत्व तो उच्च बौद्धिक अनुशासन एवं कल्पनाशीलता पर और अन्य लोगों के साथ उनकी साधना में शामिल होने की तत्परता पर निर्भर है। उदाहरणार्थ, कोई विद्यार्थी (learner) सोच सकता है कि सं. रा. अमेरिका के दास विरोधी आंदोलन अथवा क्यूबाई–क्रांति और हार्लेम की घटनाओं के दरम्यान किसी तरह की समरूपता है। शिक्षाकार जो स्वयं इतिहासज्ञ हो, वह इस तरह की समरूपता में क्या खामियाँ हो सकती हैं उन्हें समझने की दिशा बता सकता है। वह अपने स्वयं की इतिहासज्ञता को पुनः जांच कर सकता है या वह अपने स्वयं के अन्वेषण में विद्यार्थी को आमन्त्रित कर सकता है। दोनों मामलों में वह अपने शिष्यों को समीक्षा–कला में दीक्षित करेगा – जो कि स्कूल में दुर्लभ है— और कि जिसे रुपया अथवा अन्य किसी उपकार से खरीदा नहीं जा सकता।

गुरु और शिष्य का सम्बन्ध किसी बौद्धिक अनुशासन से बंधा हुआ नहीं है। उस सम्बन्ध के अनुपूरक कलाओं में, भौतिकशास्त्र में, मनोविज्ञान में, और शिक्षा में है। वह पर्वतारोहण, धातु–कर्म, राजनीति, मन्त्रिमण्डल–निर्माण और स्टाफ-मैनेज मेंट आदि के साथ फिट होता है। सच्चे गुरु—शिष्य सम्बन्धों में जो सर्वसामान्य है वह है वो चेतना कि दोनों ही इस बात को एक साथ स्वीकार करते हैं कि उनके संबंध पूरी तरह से अनमोल हैं और ऐसा होना दोनों के लिए एकदम भिन्न तरीकों से बड़ा सौभाग्य है।

नीमहकीमों, चमत्कार नेताओं, दलबदलुओं, भ्रष्ट गुरुओं और धर्मपद भ्रष्टाचारी पादरियों, ट्रिकबाजों, जादू-टोना-कारों और मसीहाओं ने नेतृत्व की भूमिकाओं को धारण करने में योग्यता सिद्ध की है एवं इस प्रकार दर्शाया है कि शिष्य की गुरु पर किसी तरह की निर्भरता कितनी खतरनाक है। भिन्न-भिन्न समाजों ने इन कपटी शिक्षकों के खिलाफ तरह-तरह के तरीकों के द्वारा अपने को सुरक्षित किया है। भारतीयों ने जाति की वंश परम्परा के द्वारा, पूर्वी यहूदियों ने रब्बी की धार्मिक शिष्यता के द्वारा, ईसाइयत के उत्थानकाल ने वैराग्य-युग के आदर्श जीवन धारण करके एवं उसके अन्य काल ने पुरोहितों के शासन के द्वारा उनका मुकाबला किया है। हमारा समाज स्कूलों के प्रमाणीकरण पर भरोसा कर रहा है। बहुत संदेहास्पद है कि वह विधि किसी बेहतर छानबीन को उपलब्ध कराती हो, और यदि उसके दावे को मान भी लें कि वह कराती हो, तब वह प्रति दावा भी बनता है कि वह ऐसा करते हुए व्यक्तिगत शिष्यवृत्ति को पूरी तरह से लुप्त करने की कीमत पर ही करती है।

व्यवहार में, हुनरों के शिक्षक और ऊपर चीन्हे गये शिक्षायी नेतृत्व के दरम्यान हमेशा ही एक धूमिल रेखा होगी, और ऐसे कोई स्पष्ट कारण दिखाई नहीं देते कि अपने विषयों को छात्रों को सिखाने वाले परम्परागत शिक्षक (drill teacher) में "मास्टर" को खोजकर वैसे कुछ मार्गदर्शकों से ज्ञान-सीख के लिए गुंजाइश क्यों नहीं निकाली जा सकती।

दूसरी ओर, गुरु-शिष्य सम्बन्ध की विशिष्टता इसके बहुमूल्य चरित्र में है। एरिस्टॉटल ने उसे नैतिक प्रकार की मित्रता माना है जो तय की हुई शर्तों पर आधारित नहीं है, वह तो एक उपहार देती है, या वह कुछ-तो-भी करती है, कि जैसा किसी मित्र के साथ करती है। थामस एक्विनास ने इस तरह के शिक्षण के विषय में कहा है कि निश्चय ही वह प्रेम और दया का कृत्य है। इस प्रकार शिक्षण शिक्षक के लिए भव्यता और उसके अपने लिए तथा उसके शिष्यों के लिए किसी तरह का अवकाश (Leisure ग्रीक भाषा में 'school') है : वह एक ऐसी गतिविधि है जो दोनों के लिए सार्थक है और जिसमें किसी तरह का अन-जाना आशय नहीं है।

सच्चे बौद्धिक नेतृत्व के लिए प्रतिभावान लोगों द्वारा उसे प्रदान करने की इच्छा पर निर्भर होना अपने समाज में भी स्पष्टतः जरूरी है, किन्तु अभी वह किसी नीति में परिवर्तित नहीं हुआ है। हमें सर्वप्रथम ऐसे समाज की रचना है जिसमें स्वयं वैयक्तिक कर्मों को ही वस्तुओं को बनाने एवं लोगों की जोड़-तोड़ करने के मूल्य की अपेक्षा, ज्यादा ऊँचे मूल्य की जरूरत पड़े। इस तरह के समाज में समन्वेषी, आविष्कारी, रचनात्मक शिक्षण को अवकाशी "बेरोजगारी" (Leisurely 'unemployment') के अत्यंत वांछनीय रूपों में गिनना तर्कसंगत होगा। लेकिन हमें यूटोपिआ के उदय की प्रतिक्षा करने की जरूरत नहीं है। आज भी स्कूल-मुक्ति (डी-स्कूलिंग) और समकक्ष सुमेल सुविधाओं (Peer matching facilitois) की स्थापना का अत्यंत महत्वपूर्ण प्रतिफल यह होगा कि "पारंगत लोग" ('masters') अनुकूल शिष्यों को एकत्र करने की पहल करेंगे। और जैसा कि पहले भी बताया गया है, उसका यह प्रतिफल भी होगा कि सक्षम शिष्यों के लिए सूचनाओं के आदान-प्रदान हेतु, अथवा उन्हें किसी गुरु के चुनाव करने हेतु पर्याप्त अवसर मिलेंगे।

केवल स्कूल ही वे संस्थाएँ नहीं है जो व्यवसायों (Professions) को भूमिकाओं की रेकेजिंग के द्वारा भ्रष्ट करते हैं। अस्पतालों के द्वारा परेलू चिकित्सा असंभव बना दी जाती है, और फिर अस्पताली-चिकित्सा को मरीज के लिए लाभदायक करार दिया जाता है। साथ-ही-साथ, काम करने का डॉक्टर का अधिकार और योग्यता अस्पताल के सहयोग पर निर्भर होती जाती है। यद्यपि वह अभी भी उस पर उतना निर्भर नहीं है कि जितना शिक्षक स्कूलों पर निर्भर है। न्यायालयों के बारे में भी यही कहा जा सकता है, जो नये कानूनों के बनने के साथ-साथ तारीखें भरते जाते हैं और इस प्रकार न्याय में विलंब करते हैं। वित्रजों के बारे में भी यही बात है, जो किसी मुक्त वृत्ति को बंद व्यवसाय में तब्दील करते हैं। इन सभी मामलों में नतीजा यह होता है कि दुर्लभ सेवाएँ ऊँचे दाम पर जा पहुंचती हैं और व्यवसाय के कम सक्षम सदस्यों की आमदनी बढ़ती जाती है।

जब तक पुराने व्यवसाय बड़ी आमदनी और बड़ी प्रतिष्ठा पर एकाधिकार जमाये हुए हैं तब तक उन व्यवसायों को सुधारना कठिन है। स्कूल टीचर के व्यवसाय का सुधार आसान होना चाहिये, इसलिए भी कि वह अपने

को व्यवसाय के नवसिखुओं को शिष्यवृत्ति देने की अद्वितीय क्षमता का दावा तो रखता ही है, बल्कि वह अन्य व्यवसायों के नवसिखुओं को सिखाने का भी दावा करता है। इस अति विस्तार के कारण किसी भी व्यवसाय (Profession) को ढील मिल जाती है कि वह उसके अपने शिष्यों को पढ़ाने-सिखाने के अधिकार को पुनः पा ले। स्कूल मास्टरों को अत्यंत ही मामूली वेतन दिया जाता है और स्कूल प्रणाली के सख्त नियंत्रण से वे हताश होते जाते हैं: उनमें से वे जो अत्यंत उद्यमी और मेधावी होंगे वे हुनर-मॉडल (Skill model), नेटवर्क प्रशासक, या मार्गदर्शन-के- विशेषज्ञ के रूपों में चलता हासिल करके बेहतर अनुकूल काम, ज्यादा आजादी और ऊँची आमदनी पा सकते हैं।

अन्त में, प्रमाणीकृत शिक्षक के ऊपर भर्ती-किये हुए छात्र की निर्भरता अन्य व्यावसायिकों पर उसकी निर्भरता (जैसे कि किसी अस्पताली मरीज की उसके डॉक्टर पर निर्भरता) की बनिस्बत ज्यादा आसानी से दूर की जा सकती है। यदि स्कूल की अनिवार्यता खत्म कर दी जाये, तो कक्षाओं में शैक्षिक सत्ता के द्वारा तुष्ट होने वाले शिक्षक अपने को सिर्फ उन्हीं विद्यार्थियों के बीच में पायेंगे जो पढ़ाने के उनके लटके-झटके से आकर्षित हुए होंगे। हमारे वर्तमान व्यावसायिक ढाँचों का विस्थापन स्कूलटीचर को हटाकर प्रारम्भ किया जा सकता है।

स्कूलों का विस्थापन अवश्य ही होगा—और वह अद्भुत तेजी से होगा। स्कूल-भंग को टाला नहीं जा सकता, और स्कूल-भंग करने के लिए ज्यादा जोर लगाने की जरूरत भी नहीं है क्योंकि वह तो आज ही भंग होने लगा है। ज्यादा जरूरी यह है कि उसे किसी आशावादी दिशा की ओर घुमाया जाये, क्योंकि स्कूल-भंग दो परस्पर विपरीत दिशाओं में से किसी एक की ओर घूम सकता है।

पहला, कि स्कूल के लुप्त हो जाने पर भी, शिक्षाकार के फरमान और समाज पर उसके बढ़ते हुए नियंत्रण का विस्तार हो जावे। बढ़िया इरादों और स्कूल में आज उपयोग में लायी जा रही लच्छेदारियों (rhetoric) का विस्तार करके, स्कूलों की वर्तमान कशमकश (crisis) से शिक्षाकार एक बहाना हासिल कर सकते हैं ताकि समसामयिक समाज के सारे नेटवर्कों का लाभ लेकर वे उनके संदेश हम पर बहायें—हमारे अपने ही फायदे के लिए। "स्कूल भंग" कि जिसे हम रोक नहीं सकते, उसका मतलब होगा प्रोग्रामबद्ध शिक्षण (programmed

instruction) के सच्चे इरादे वाले प्रशासकों के प्रभुत्व में किसी "नये सशक्त संसार" का उदय ।

इसके दूसरी ओर, सरकारों और उनके साथ-साथ नियोक्ताओं (employers), करदाताओं, प्रबुद्ध शिक्षाकारों और स्कूल प्रशासकों में प्रमाणीकरण-करने-वाली वर्गीकृत-पाठ्यक्रमी-शिक्षा के हानिकारक परिणामों के प्रति चेतना लोगों की बहुत बड़ी तादाद को एक दिलचस्प अवसर प्रदान कर सकती है—और वह है ; शिक्षा के उपकरणों तक, एवं जानकर-शिल्पकार-ज्ञानी-विज्ञानी तक पहुँच (acces) के लिए समान अवसर के अधिकार को बरकरार रखना ताकि उनसे ज्ञान-समझ प्राप्त की जा सके । लेकिन, इसके लिए जरूरी होगा कि शैक्षिक क्रांति कुछ खास उद्देश्यों से मार्गदर्शन ले :

(1) वस्तुओं पर से व्यक्तियों और संस्थाओं के उस नियंत्रण को खत्म करना जो वस्तुओं के शैक्षिक-मूल्यों पर लागू है ताकि उन तक पहुँच (access) मुक्त हो ।

(2) हुनरों के आदान-प्रदान को, माँग किये जाने पर उसको पढ़ाने-सिखाने या उनका अभ्यास करने की आजादी की गारंटी देकर, मुक्त किया जाये ।

(3) विभिन्न व्यक्तियों में सभा बुलाने और चर्चा करने की योग्यता—याने, वह योग्यता जिसे अब संस्थाएं, लोगों के लिए बोलने का दावा भर कर, उत्तरोत्तर हथियाती जा रही है, उसे—उन्हें पुनः लौटाकर उनकी आलोचनात्मक और रचनात्मक कल्पनाशक्ति को मुक्त किया जाये ।

(4) व्यक्ति को अपने समकक्षों के अनुभवों से सीखने-सिखाने, और अपनी पसन्द के शिक्षक, मार्गदर्शक, सलाहकार या चिकित्सक के समक्ष स्वयं को सौंपने के अवसरों को प्रदान करके—किसी स्थापित व्यवसाय द्वारा दी जा रही सेवाओं के जरिये अपनी अपेक्षाओं को रूप देने की अनिवार्यता से मुक्त किया जाये ।

निश्चय ही समाज में से स्कूल-भंग होने पर अर्थनीति, शिक्षा और राजनीति के वे सारे भेद भंग हो जायेंगे जिन पर वर्तमान विश्व-व्यवस्था तथा राष्ट्रों की स्थिरता कायम है ।

शिक्षामी संस्थाओं को हमारी समीक्षा मनुष्य के ही रूप की समीक्षा करने की ओर हमें खींचती है । "गाहक" (client) के रूप में जिस प्राणी का होना स्कूलों के लिए जरूरी है उसके पास अपने स्वयं की सेवा के साथ बढ़ने की

स्वायत्तता प्रोत्साहन नहीं है । हम सार्वभौमिक स्कूलिंग को प्रोमेथियन उद्यम का चरमोत्कर्ष मान सकते हैं, और उसके विकल्प को एक ऐसा संसार कि जो एपिमेथियन मनुष्य के जीने के लिए उपयुक्त हो । यह तो हम स्पष्ट कर सकते हैं कि स्कूली-प्रणालियों (scholastic funneles) का विकल्प एक ऐसा संसार है जो सूचना-प्रसारण जालों (Communtion webs) द्वारा रचा हुआ हो, हम यह भी ठीक रूप से बतला सकते है कि ये जाल किस तरह काम करेंगे, लेकिन मनुष्य की एपिमेथियन प्रकृति के पुनः उदय होने की हम आशा ही लगा सकते है; उसे आयोजित नहीं कर सकते, उसका उत्पादन नहीं कर सकते ।

7

एपिमेथियन मनुष्य का पुनर्जन्म

हमारा समाज उस आखिरी मशीन से मिलता-जुलता है जिसे मैंने कभी न्यूयार्क में खिलौनों की किसी दुकान पर देखा था। वह एक मेटल कास्केट (धातु का बना एक बॉक्स) था जो बटन दबाते ही खुलता और एक यांत्रिक हाथ बाहर निकल आता। चमचमाती ऊंगलियां ढक्कन को पकड़ती, उसे नीचे खींचती और भीतर से लॉक (बन्द) कर देती। यह एक बॉक्स है : उसमें से आप कुछ निकालने की अपेक्षा करते हैं, लेकिन उसमें कुल जमा ऐसी यांत्रिकता है जो उस के ही पट बन्द कर देती है। यह अनोखा-यंत्र "पेंडोरा के बॉक्स" के बिलकुल विपरीत है।

मूल पेंडोरा (सर्वस्व-दानी) को प्रागैतिहासिक मातृप्रधान यूनान में पृथ्वी देवी माना गया था। वह अपनी अम्फार (pythos) से सारी बुराईयों को झरने देती थी। लेकिन अपना ढक्कन "आशा" के झरने के पूर्व बन्द कर लेती थी। आधुनिक मनुष्य का इतिहास पेंडोरा-मिथ के अधःपतन से प्रारम्भ होता है,और स्वयं को बन्द करने वाले बॉक्स तक पहुंचते-पहुंचते समाप्त हो जाता है। यह ऐसे प्रोमेथियन उद्यम का इतिहास है जो व्याप्त बुराईयों में से प्रत्येक को बाड़े में बन्द कर देने के लिए संस्थाएं गढ़ता रहा है। यह धुंधलाती आशा और उभरती अपेक्षाओं का इतिहास है।

इसका अर्थ समझने के लिये हमें "आशा" और "अपेक्षा" के दरम्यान भेद को पुनः खोजना होगा। अपने प्रबल भाव में आशा का अर्थ है, प्रकृति की अच्छाई में विश्वास की आस्था बनाए रखना, जबकि अपेक्षा (जैसा कि यहां मैं उपयोग में ले रहा हूं) का अर्थ है, मनुष्य के द्वारा आयोजित और नियन्त्रित परिणामों पर निर्भर होना। आशा उस व्यक्ति पर अपनी इच्छा केन्द्रित करती है जिसके पास से हम किसी उपहार पाने के लिये प्रतीक्षारत हैं। जबकि "अपेक्षा", उस पूर्वानुमेय प्रक्रिया से तृप्ति चाहती है जो वही उत्पादन करेगी जिसे पाने का अधिकार हमें होगा। आज प्रोमेथियन लोकाचार ने "आशा" को ग्रस रखा है। मनुष्य जाति का अस्तित्व(survival) इस बात पर निर्भर है कि सामाजिक शक्ति के किसी रूप में "आशा" का पुनराविष्कार हो।

मूल पेंडोरा को पृथ्वी पर एक घड़े के साथ भेजा गया था जिसमें

सारी बुराईयां समायी हुई थी : हां अच्छी बातों में से सिर्फ एक ही बात 'आशा' उसमें थी। आदिम मनुष्य आशा के उसी संसार में जीता था। वह प्रकृति की उदारता पर, देवताओं की भिक्षा पर, और अपने को भरण-पोषण योग्य बनाने हेतु अपने कबीले के अंतर्बोध (instincts) पर भरोसा करता था। क्लैसिकल यूनानियों ने 'आशा' के स्थान पर 'अपेक्षा' को स्थापित करना आरम्भ किया। पेंडोरा के उनके संस्करण में से अच्छाईयां और बुराईयां दोनों ही झरती थी। उन्होंने उसे विशेषकर उन बुराईयों के लिये याद रखा जिन्हें वह बन्धनमुक्त करती थी। और, अत्यन्त उल्लेखनीय बात यह है, कि वे यह बिलकुल भूल गए कि "सर्वस्व-दानी" अपने पास 'आशा' भी रखती थी।

यूनानियों ने दो भाईयों, प्रोमेथियस और एपिमेथियस की कथा कही। प्रोमेथियस ने एपिमेथियस को पेंडोरा से अलग रहने की सलाह दी। लेकिन एपिमेथियस ने पेंडोरा से विवाह कर लिया। क्लैसिकल यूनान में "एपिमेथियस" का मतलब था "पीछे देखू" याने "आलसी" या "मूढ़"। जब हेसीयोड (Hesiod) ने इस कथा को अपने क्लैसिकल रूप में पुनः रचा, उस समय तक,यूनानी अपने को नैतिक और नारीद्वेषी पुरुष प्रधान समाज में बदल चुके थे जो आदि-नारी के विचार से ही दहशत खाता था। उन्होंने तार्किक और सत्तावादी समाज की रचना की। लोगों ने संस्थाओं को गढ़ा, और उनके द्वारा व्याप्त बुराईयों से निपटने की योजना बनाई। वे अपनी शक्ति के प्रति सचेत हुए कि जिसके द्वारा वे अपनी तरह की दुनिया को ढाल सकते थे और उस दुनिया से अपने द्वारा अपेक्षित सेवाओं का उत्पादन करा सकते थे। वे अपने स्वयं की जरूरतों और अपने बच्चों की भावी मांगों को अपनी दस्तकारियों से गढ़ना चाहते थे। वे न्यायाधीश, वास्तुशिल्पी और लेखक बनकर, तथा संविधानों, नगरों और कलाकर्मों के निर्माता बनकर अपनी भावी पीढ़ी के लिए दृष्टांत बने। आदिम मनुष्य ने पावन कर्म-काण्डों में मिथकीय सहभागिता के सहारे व्यक्तियों को समाज के ज्ञान में दीक्षित किया था, लेकिन क्लैसिकल यूनानियों ने सिर्फ उन्हीं नागरिकों को सच्चे मनुष्यों की तरह चीन्हा था जिन्होंने अपने बुजुर्गों के द्वारा आयोजित संस्थाओं में दी गई शिक्षा (paideia) के द्वारा अपने को योग्य बनाने दिया था।

विकासशील मिथ संक्रमण बतलाता है कि : संसार, जिसमें स्वप्नों के अर्थ "अनुमाने" (इन्टरप्रेट किए) जाते रहे थे, बदल कर ऐसा संसार बन जाता है जिसमें देववाणियां "गढ़ी" जाने लगी थी। अत्यंत प्राचीन काल से पर्नासस

पर्वत की खाई में पृथ्वी देवी की पूजा होती आई है जो पृथ्वी का केन्द्र और
नाभि माना गया था। वहीं पर डेल्फी (यह शब्द डेल्फीस से बना है जिसका अर्थ
है कोख) में फेआंस और एरांस की बहिन गाइया सोती थी। उसका पुत्र पायथान
[जलराक्षस (ड्रैगान)], अपनी बहिन के लिए चन्द्रिमा की और ओसरूपी कन्यों
को रक्षा करता था। एक दिन सूर्यदेव अपोलो, ट्रॉय का निर्माता, पूरब से उठा।
उसने ड्रैगान का कत्ल किया और गाइया की गुफा का मालिक बन बैठा। उसके
पुजारियों ने गाइया के मन्दिर पर अधिकार जमा लिया। उन्होंने किसी स्थानीय
कुमारी को नियुक्त किया, उसे पृथ्वी की धुआँती नाभि के ऊपर एक तिपाई पर
आसीन किया और धूम से उसे मदहोश कर दिया। फिर उन्होंने उन्मादी उच्चा-
रणों को आत्मसंतोषी भविष्यवाणियों की षट्पदियों में लयबद्ध किया। पेलो-
नियस के हर कोने से लोग—अपनी समस्याओं को लेकर एपोलो के मन्दिर
पहुँचते। ऐसे सामाजिक विकल्पों के ऊपर भविष्यवक्ता की राय ली जाती,
जैसे कि: प्लेग या दुर्भिक्ष को रोकने के लिये कौन से कदम उठाये जायें, कि
स्पार्टा के लिये कौन-सा संविधान उपयुक्त होगा, कि उन नगरों के निर्माण के
लिए कौन-सा स्थान उपयुक्त होगा जो बाद में बाइजान्टियम और काल्सेडॉन
नगर बने। कभी भी गलती नहीं करने वाला बाण एपोलो का प्रतीक
बन गया। उसके बावत् सभी कुछ आशय भरा और उपयोगी बन गया।
प्लेटो ने "रिपब्लिक" में आदर्श राज्य का वर्णन करते हुए प्रचलित संगीत
को बहिष्कृत रखा है। नगरों में सिर्फ हॉर्प और एपोलो की बीन को
ही अनुमति दी गई थी क्योंकि केवल उनकी स्वर-संगति "आवश्यकता का
तनाव और मुक्ति का तनाव, दुर्भाग्य का तनाव और सौभाग्य का तनाव,
साहस का तनाव और संयम का तनाव रचती है जो कि नागरिक के लिये उप-
युक्त है।" पॉन की बाँसुरी से, और नैसर्गिक प्रवृत्तियों को उत्तेजित करने वाली
उसकी शक्ति से नगरवासी आतंकित हो उठते थे। केवल "गड़रियेही पॉन की
बाँसुरियाँ बजा सकते है और वह भी देहात में।"

मनुष्य ने उन कानूनों की (कि जिनके अन्तर्गत वह जीना चाहता था
उनकी), और परिवेश को अपने स्वयं के प्रतिरूप में ढालने की जिम्मेदारी ग्रहण
की। धरती माता के द्वारा मिथकीय जीवन में जीने की आदिम दीक्षा, अब रूपां-
तरित होकर उस नागरिक को दी जाने वाली शिक्षा (Padeia) में तब्दील हो
गई जिसे सार्वजनिक-सभास्थल में सहज लगने लगा।

आदिम मनुष्य के लिये संसार नियति, तथ्य, और जरूरत के द्वारा संचा-
लित होता था। देवताओं से अग्नि चुराकर, प्रामेथियन ने तथ्यों को समस्याओं
में बदल दिया, जरूरत को प्रश्न कहा, और नियति को दुत्कार दिया। क्लैसिकल
मनुष्य ने मानव परिदृश्य के लिए इहलौकिक संदर्भ गढ़ा। उसे भान था कि वह
नियति-प्रकृति-परिवेश को दुत्कार सकता है, लेकिन वैसा वह अपने स्वयं के
जोखिम पर ही कर सकता है। समसामयिक मनुष्य और आगे गया; उसने
संसार को अपने प्रतिरूप में गढ़ने का प्रयास किया, समूचा मानव-निर्मित परिवेश
बनाना चाहा, लेकिन पाया कि वैसा वह सिर्फ इसी शर्त पर कर सकता है कि
उसमें फिट होने के लिए स्वयं को निरन्तर पुनः पुनः बनाता जाये। हमें इस
तथ्य का सामना करना ही होगा कि आज मनुष्य स्वयं ही दाँव पर खड़ा है।

आज न्यूयार्क में "क्या है" और "क्या होना चाहिए" का अत्यंत
विचित्र भ्रम उत्पन्न होता है और इसके बिना न्यूयार्क में जीना असम्भव है।
न्यूयार्क की सड़कों पर कोई बालक जिस किसी चीज को छूता है वह वैज्ञानिक
तौर-तरीके से ही विकसित हुई है, गढ़ी गई है, आयोजित है, और बेची जा
रही है। सब कुछ वैज्ञानिक तौर-तरीके से। यहाँ तक कि पेड़ भी वहाँ इसलिए
है क्योंकि पार्क डिपार्टमेंट ने उन्हें वहाँ लगाने का निर्णय लिया है। टेलीविजन
पर बच्चा जो हास्य-व्यंग देखता सुनता है वे ऊँची कीमत देकर प्रोग्राम-रूप में
प्रस्तुत होते हैं। हारलेम की गलियों में जिस कबाड़ के संग वह खेलता है वह
किसी-न-किसी चीज के आयोजित टूटे पैकेजेस् का ही बना होता है। यहाँ तक
कि इच्छाएँ और भय भी संस्था-निर्मित है। सत्ता और हिंसा नियोजित और
व्यवस्थित होती है: गिरोहों और पुलिस के दरम्यान एक-दूसरे के विरुद्ध। स्वयं
ज्ञानप्राप्ति भी विक्रयवस्तु की खपत के रूप में परिभाषित कर दी गई है जो
अनुसंधानित, आयोजित और प्रायोजित कार्यक्रमों का परिणाम है। जो कुछ
अच्छा है, वह किसी संस्था विशेष का ही उत्पादन माना जा रहा है। ऐसी
माँग जिसका किसी संस्था के द्वारा उत्पादन नहीं हो सकता हो सरासर मूर्खता
है। नगर का कोई बालक ऐसी कुछ भी अपेक्षा नहीं कर सकता है जो संस्थायी
प्रक्रिया के संभव विकास के बाहर रखी हुई हो। यहाँ तक, कि उसकी फंतासी को
भी प्रोत्साहित किया जाता है ताकि वह विज्ञानक था उत्पन्न करे। वह किसी अनि-
योजित कावद चमत्कार का अनुभव "गन्दगी" "गड़बड़" या "खराबी" के साथ

टकरा जाने पर ही कर सकता है; जैसे गटर में पड़ा हुआ संतरे का छिलका, सड़क पर पड़ा कीचड़, व्यवस्था, कार्यक्रम या मशीन में उत्पन्न हुई कोई गड़बड़ी: बस, ये ही उसकी सृजनात्मक कल्पनाशीलता की उड़ानें हैं 'गूफिंग ऑफ' ही रचनात्मक छद्मकृति है। (Goofing off=गड़बड़झाला)।

जब ऐसा कुछ भी वांछनीय नहीं है जो अनियोजित हो, तब नगरपुत्र सहज ही इस निष्कर्ष पर आ पहुँचता है कि हम हमारी हरेक माँग के लिए हमेशा ही कोई संस्था गढ़ सकते हैं। वह मूल्य-सृजन की प्रक्रिया की शक्ति को बिना-प्रमाण मान लेता है। लक्ष्य चाहे किसी मित्र से भेंट करना हो, या किसी पड़ोसी के साथ एकरस होना हो, अथवा भाषा-उच्चारण का कौशल हासिल करना हो, वह इस तरह से परिभाषित किया जायेगा जैसे उसकी उपलब्धि गढ़ी जा सकती हो। जब आपको मालूम है कि माँग में जो कुछ है उसका उत्पादन हाजिर है तब आप शीघ्र ही अपेक्षा करने लगते हैं कि जो कुछ उत्पादन नहीं हो रहा है उसकी माँग ही नहीं है। यदि चन्द्र-गाड़ी की रचना की जा सकती है, तो चन्द्रमा पर जाने की माँग भी गढ़ी जा सकती है। जहाँ कि जहाँ तुम जा सकते हो वहाँ तुम नहीं जाओ तो यह विनाशकारी होगा। यह उस अवधारणा को मूर्खता भरी बतलाकर उसका पर्दाफाश कर देगा कि जिसके अन्तर्गत प्रत्येक संतुष्ट बोध में उससे भी बड़ी किसी असंतुष्ट माँग का समावेश है। ऐसी अंतदृष्टि प्रगति को रोक देगी। जो संभव है उसका उत्पादन नहीं करना "बढ़ती हुई अपेक्षाओं" के नियम को [हताशाओं-के-अंतरालों (frustration-gap) के लिए मीठी बोली की तरह] कलंक खोल देना है जो किसी समाज की ऐसी चालक (motor) है जिसे सेवाओं (services) और बढ़ती माँगों के सह-उत्पादन पर गढ़ा गया है।

आधुनिक नगरवासी की मनःस्थिति मिथकीय परम्परा में केवल नर्क की कल्पना [सिसिफस कुछ समय के लिए थेनातॉस (मृत्यु) को अपने वश में कर लेता है, लेकिन उसे पहाड़ों के ऊपर नर्क की चोटी तक एक भारी पत्थर को लुढ़का ले जाना पड़ता है, मगर जैसे ही वह शिखर के नजदीक पहुँचता है पत्थर उसकी पकड़ से हर बार फिसल कर नीचे लुढ़क जाता है] के अंत-

र्गत ही नजर आती है। टैण्टेलस को देवगण अपने यहाँ भोजन पर आमंत्रित करते हैं, और वह अवसर का लाभ उठाकर अमृत बनाने की विधि का रहस्य चुरा लेता है, लेकिन पकड़ा जाता है और सनातन भूख से तड़पने की सजा पाता है कि नदी के किनारे खड़ा रहेगा किन्तु जैसे ही चुल्लू भरने को झुकेगा, लहरें उलटी जाने लगेंगी और जल पीछे खिसकता जायेगा; वहाँ पर फलों से लदालद लटके पेड़ भी होंगे लेकिन जब-जब वह उन्हें तोड़ने को हाथ बढ़ायेगा टहनियाँ ऊपर उठती जाएंगी। निरन्तर-बढ़ती हुई माँगों का संसार महज बुरा ही नहीं-उसे तो नर्क ही कहना चाहिये।

मनुष्य ने हर किसी वस्तु की माँग के लिए हताश शक्ति का विकास कर लिया क्योंकि वह ऐसी कुछ भी कल्पना नहीं कर सकता जिसे किसी संस्थान के बगैर हासिल किया जा सके। सर्वशक्तिमान औजारों के बीच घिरा मनुष्य, अपने ही औजारों के एक औजार-रूप में संकुचित हो गया है: आदिम बुराईयों में से हर बुराईयों को प्रेत-मुक्त करने के लिए बनी प्रत्येक संस्था, सफलता की पूरी गारन्टी से युक्त होकर, मनुष्य के लिये भीतर से ऑटोमेटिक (अपने-आप) बन्द होने वाली ताबूत-पेटिका बन गई है। मनुष्य बक्सों के भीतर जा फंसा है। जिसके अन्दर उसने उन बुराईयों को घेरना चाहा जिन्हें पैंडोरा के बक्से ने अपने में से बाहर जाने दिया था। हमारे औजारों के द्वारा उत्पादित काले-धुंए में छिपे यथार्थ के अन्धकार ने हमें लपेट लिया है। एकदम एकाएक हम हमारे अपने ही जाल में जा फंसे हैं।

स्वयं यथार्थ मनुष्य के निर्णय पर हो गया है। वही प्रेजिडेंट (President of U. S. A.) कि जो कम्बोडिया के ऊपर निष्प्रभावी हमले का आदेश देता है वही प्रजिडेंट, बिलकुल उसी प्रकार से एटम के प्रभावी उपयोग का आदेश भी दे सकता है। "हिरोशिमा बटन" दबा कर अब पृथ्वी की नाभि को काटा जा सकता है। मनुष्य ने अब ऐसी ताकत हासिल कर ली है कि वह केऑस को आदेश देकर उसे एरोस और गाइया पर हावी रखे। पृथ्वी की नाभि को काट सकने वाली मनुष्य की एक ताकत हमें सनातन याद दिलाये रखने वाली है कि हमारी संस्थाएं अपने स्वयं का सम्माहार रखती हैं, और साथ-ही साथ अपने खुद के एवं हमारे सबके सर्वनाश की शक्ति भी रखती हैं। आधुनिक संस्थाओं की निरर्थकता (absurdity) सैन्य-संस्था (military) के बाबत स्वयं-सिद्ध होती है।

आधुनिक हथियारों के द्वारा आजादी की, सभ्यता की, और जीवन की प्रति—रक्षा उनका उन्मूलन करके ही हो सकती है। सैन्य-भाषा में सुरक्षा का यही अर्थ हो गया है कि धरती का ही नाश कर दिया जाये।

सैन्य संस्था के अतिरिक्त अन्य संस्थाओं में अंतर्निहित ऊलजलूली (absurdity) कुछ भी कमतर नहीं है। उनके भीतर उनकी विनाशकारी ताकत को उत्तेजित करने वाला स्विच बटन नहीं है तो क्या हुआ। अपने विनाश के लिए उन्हें तो उस बटन की भी जरूरत नहीं है। संसार का ढक्कन बन्द कर देने की उनकी पकड़ खुद-ब-खुद जबर्दस्त हो गई है। "माँगों" को उत्पन्न करने की उनकी रफ्तार "तृप्ति" करने की रफ्तार से ज्यादा तेज है, और उनके द्वारा उत्पन्न माँगों से निपटने की प्रक्रिया में वे धरती को ही खाये जा रही हैं। खेती और उद्योग के बाबत तो यह बात उजागर हो गई है लेकिन आधुनिक औषधि और शिक्षा के मामले में भी यह उतनी ही सच है। आधुनिक खेती उपजाऊ भूमि को विषैला बनाती है और उसे समूचा अनुर्वर कर देती है। "हरित क्रांति" के द्वारा नये बीजों का उपयोग करके प्रति एकड़ फसल को तिगुना किया जा सकता है—लेकिन उसके लिये फर्टिलाइजर, कीटनाशक, पानी और ऊर्जा को ज्यादा बड़ी मात्रा में बढ़ा करके ही वैसा किया जा सकता है: इन चीजों का, तथा अन्य सभी सामानों का औद्योगिक निर्माण समुद्रों को और पर्यावरण को प्रदूषित करता है, एवं अपूरणीय संसाधनों की उर्वरता को निस्तेज करता है। यदि दहन (combastion) इसी रफ्तार से बढ़ता रहे तो हम वातावरण की ऑक्सीजन को उस की पूर्ति की गति से ज्यादा तेज रफ्तार में खपा देंगे। और, इस बात में कोई दम नहीं है कि आगे चलकर दहन (combastion) का स्थान अणु विखण्डन या अणु विलयन ले लेगा-(और यदि ऐसा हुआ भी तो उसमें उतने ही बड़े या उस से भी ज्यादा बड़े जोखिम होंगे ही)। दाई आदि को आधुनिक चिकित्साजनों ने प्रतिस्थापित कर दिया है और दम भरा है कि वे मनुष्य को एकदम नया कुछ बना देंगे कि अब वह अनुवांशकी-विशेषज्ञता से जनित, औषधियों-से तराशा हुआ, एवं लम्बे रोग को भी झेल सकने वाला प्राणी होगा। समसामयिक आदर्श है सर्वस्व-स्वास्थ्यकर संसार (pan-bygienic world): एक ऐसा संसार जिसमें मनुष्यों के दरम्यान सारे आपसी रिश्ते, एवं मनुष्यों तथा उनके विश्व के बीच सारे सम्बन्ध दूरदेशिता और कौशल-साधना का प्रतिफल है। स्कूल ऐसी आयो-

जित प्रक्रिया बन गया है जो किसी आयोजित संसार के लिए मनुष्य को गढ़ता है: वह मनुष्य को मनुष्य के पिंजरे में फंसाने वाला प्रमुख औजार है। उससे आशा की जाती है कि वह मनुष्य को उस समुचित स्तर तक ढाले कि वह इस विश्व-खेल में हिस्सा लेने योग्य बन सके। हम संसार को, उसके मौलिक आधार से हटाकर, उसे क्रूरतम तरीके से ढालते, उपचार देते, उत्पन्न करते और संतुलित करते हैं।

सैन्य-संस्था तो निश्चय ही निरर्थक (absurd) है। गैर-फौजी संस्थाओं की निरर्थकता (absurdity) का सामना करना ज्यादा ही मुश्किल होता है। बल्कि वह ज्यादा ही भयावनी है, खासकर इसलिए क्योंकि वह निष्ठुरता से चलती है। फौजी मामले में तो हम यह जानते हैं कि परमाणु-विस्फोट को टालने के लिए किसी स्विच बटन को दबाने से अपने को कैसे दूर रखा जावे। लेकिन पर्यावरणी विनाश को किसी स्विच से रोका नहीं जा सकता है।

क्लैसिकल प्राचीन-काल में मनुष्य ने यह खोज लिया था कि संसार को मनुष्य की योजना के अनुसार बनाया जा सकता है, और इस अन्तर्ज्ञान के द्वारा उसने समझा-बूझा कि यह संसार संशयात्मक, नाटकीय और हास्यास्पद है। लोकतन्त्री संस्थाएँ विकसित हुईं और उनके सांचे के अन्तर्गत मनुष्य को विश्वास करने योग्य मान लिया गया। उपयुक्त प्रक्रिया से बनी अपेक्षाओं और मानव स्वभाव में विश्वास ने एक-दूसरे को संतुलित बनाये रखा। पारम्परिक व्यवसाय विकसित हुए और उनके साथ अपने अभ्यास के लिए संस्थाएँ विकसित हुईं।

गोपनीय रूप से, संस्थायी प्रक्रिया पर निर्भरता ने वैयक्तिक मनसंसाहत को प्रतिस्थापित कर दिया है। संसार ने अपने मानवी आयाम को खो दिया है और कुण्ठात्मक आवश्यकताओं तथा नियतिवादिता को पुनः अपना लिया है जो आदिम काल की विशेषताएँ थीं। लेकिन यदि बर्बर युगीन केऑस (Chaos) को रहस्यात्मक मानवाकार देवताओं के नाम पर निरन्तर आदेश दिये जाते थे, तो आज संसार के वर्तमान रूप के लिये सिर्फ मनुष्य की योजना को ही कारण माना जा सकता है। मनुष्य आज वैज्ञानिकों, इंजीनियरों, और योजनाकारों का खिलौना बन गया है।

इस तर्क को हम अपने पर भी और दूसरों पर भी लागू होते हुए देख रहे हैं। मैं एक मैक्सिकन गांव को जानता हूँ जिसके पार प्रतिदिन एक दर्जन से

ज्यादा कारें नहीं चलती होंगी । वहाँ एक मैक्सिकन ग्रामीण, पक्की सड़क पर, अपने घर के सामने "डोमिनो" खेल रहा था जहाँ वह अपनी किशोर अवस्था से रोजाना बैठता और खेलता होगा । वहाँ से एक कार तेजी से गुजरी और उसने उस ग्रामीण को कुचल कर उसका काम तमाम कर दिया । यद्यपि कार-चालक-पर्यटक बहुत विचलित था, कि जब उसने वाकये का जिक्र मुझे सुनाया, लेकिन उसने अंत में यह कहा ही, "वह आदमी बिलकुल कार के ऊपर ही आन पड़ा, मैं क्या करता ? "

आम तौर पर पर्यटक की टिप्पणी उस आदिम वन्य-पुरुष से भिन्न नहीं है जिसने अन्य वनवासी की मृत्यु का बयान करते हुए बतलाया होगा कि वह किसी वर्जना (taboo) के वशीभूत हो गया और मर गया । लेकिन दोनों वक्तव्यों में परस्पर विपरीत मतलब है । आदिम व्यक्ति किसी भयानक और मूक अनुभवातीत भाव को दोष देता रहा होगा, जबकि कार-चालक मशीन के निर्मम तर्क की विस्मयता में है । आदिम-जन के मन में गैर जिम्मेदारी जैसा भाव ही उत्पन्न नहीं होता, जबकि कार चालक गैर-जिम्मेदारी महसूस तो करता है मगर उसे नकारता है । आदिम-जन और कार-चालक दोनों में ही नाटक के क्लैसिकल ढंग का, ट्रेजेडी की स्टाइल का, वैयक्तिक प्रयत्न और अभाव के तर्क का अभाव है । आदिम व्यक्ति उस बाबत् सचेत नहीं हुआ और कार-चालक ने उसे खो दिया । वन्य-पुरुष का मित्र और अमेरिकन टूरिस्ट का मित्र दोनों ही निश्चेष्ट हैं, और अमानवी ताकतों के बने हुए हैं । उनमें से कोई भी ट्रेजिक अभाव की अनुभूति नहीं रखता । आदिम व्यक्ति के लिये घटना जादू के नियम पर आधारित है; अमेरिकन के लिए, वह विज्ञान के नियमानुसार है । घटना उसे यांत्रिकता के नियमों के आवेश में घेरती है जो उसके भाव जगत में भौतिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक घटनाओं का संचालन करते हैं ।

आज के युग का, यानें 1971 का, मूड आशाजनक भविष्य की तलाश में किसी बड़े परिवर्तन की ओर दिशा ले लेने के लिए उपयुक्त है । संस्थावादी तद्ऽ-र्थ लगातार संस्थावादी उपायों का खंडन ही करते आते हैं । गरीबी के उन्मूलन का कार्यक्रम ज्यादा बड़ी गरीबी लाता है, एशियाई युद्ध ज्यादा बड़ा झगड़ा बढ़ाता है, तकनीकी सहयोग ज्यादा बड़े खंडित-विकास को फैलाता है । वंश-कन्ट्रोल के लिए बने उपचार केन्द्रों के कारण जीवन-दर (Survial rates) बढ़ी है और आबादी ज्यादा बढ़ती जाती है; स्कूलों के खुलने से ज्यादा बड़ी

तादाद में ड्राप-आउट बढ़ते गये हैं, और किसी एक प्रदूषण को रोकने की उधेड़-बुन से अमूमन कोई दूसरा प्रदूषण ज्यादा ही बढ़ता जाता है ।

उपभोक्ताओं को इस एहसास का सामना करना पड़ता है कि जितना ज्यादा वे खरीद सकते हैं, उतनी ही ज्यादा हेराफेरी उन्हें बर्दाश्त करते जाना होगा । अभी-अभी तक यह तर्क-संगत लगता रहा कि विक्रियाओं(dyfunctions) की इस सर्वव्यापी मुद्रास्फीति के लिये या तो टेक्नोलॉजिकल मांगों के पीछे लंगड़ाती हुई वैज्ञानिक खोजों को दोषी ठहराया जाये, या फिर, वर्ग-विरोधियों की, विचारधारावादी-संघर्षकारियों की या वर्ग दुश्मनों की पथभ्रष्टता को दोष दिया जाये । दोनों ही अपेक्षाएँ, कि एक वैज्ञानिक स्वर्णयुग आयेगा, और कि एक ऐसा युद्ध होगा जो सारे युद्धों का अन्त कर देगा, ये दोनों अपेक्षाएँ खत्म हो गई हैं ।

अनुभवी उपभोक्ता के सामने जादुई टेक्नोलॉजियों पर आधारित नव-सिखुआई निर्भरता वाले रास्ते पर लौटने का प्रश्न ही नहीं है । अनेकानेक लोगों ने मस्तिष्क-विक्षेपी कम्प्यूटरों, आधुनिक अस्पतालों से उत्पन्न रोग संचारों, और सड़कों पर या आकाश में अथवा टेलीफोनों पर "ट्रैफिक जाम" के बुरे अनुभव ले लिए हैं । महज दस वर्ष पहले (यानें 1960) तक परम्परागत विवेक ने वैज्ञानिक खोज की वृद्धि पर आधारित किसी बेहतर जीवन का अनुमान लगाया था । आज तो वैज्ञानिक बच्चों को भयभीत करते हैं । चन्द्र-क्षिप्ते (moon shots) इस बात का रोमांचक प्रदर्शन करती हैं कि जटिल तकनीकी तन्त्रों के संचालन में जो भी मानव विफलता हो वह लगभग समूची दूर की जा सकती है--लेकिन फिर भी हमें यह बात उस भय से मुक्त नहीं करती कि निर्देश के अनुसार उपभोग करने में मानव-विफलता का विस्तार नियंत्रण के बाहर फैल सकता है ।

समाज सुधारक के लिए वापस लौटने का कोई रास्ता नहीं है; 1940 के दशक की अवधारणाओं की ओर तक भी लौटने कोई सवाल नहीं उस आशा का भी अन्त हो गया कि जिनके अन्तर्गत वस्तुओं के न्यायोचित बँटवारे के प्रश्न को, वस्तुओं का उत्पादन प्रचुर मात्रा में बढ़ाकर, पीछे छोड़ा जा सकता है । आधुनिक पसन्दों को तृप्ति देने वाले न्यूनतम पैकेजेस् (minimum Packages) की कीमतें आसमान छू रही हैं, और पसन्दगी को जो बात आधुनिकतम बनाती है वह यह है कि उपभोक्ता वस्तुओं (Packages) का तृप्ति होने के पूर्व ही पुराना यानें अप्रचलित पड़ जाना ।

धरती के संसाधनों की सीमाओं का भलीभांति पता चल गया है। विज्ञान अथवा टेकनोलॉजी की कोई भी तोड़-फोड़ विधा ऐसी नहीं है जो संसार के प्रत्येक आदमी को उन वस्तुओं और सेवाओं को उपलब्ध करा दे जो अमीर देशों के गरीबों को उपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ, आज खपत हो रहे लोहे, टिन, तांबे और सीसे की मात्रा को सौ-गुना खींचकर ही, एवं किसी "साधारणतम" वैकल्पिक टेकनालॉजी का ही उपयोग करके ऐसा होना शायद संभव हो।

अंततः शिक्षक, डॉक्टर और समाज सेवक जानते हैं कि उनकी विशिष्ट व्यावसायिक सेवाओं-व्यवस्थाओं में कम-से कम एक पहलू उभयनिष्ठ है कि जो संस्थायी उपचार वे करते हैं उसके लिए वे सेवा-संस्थाओं को खड़ी करने की गति से ज्यादा ही बड़ी गति में अगली माँगों को उत्पन्न करते हैं।

परम्परागत विवेक का कोई हिस्सा नहीं, बल्कि उसका समूचा तर्क ही संदेहास्पद होता जा रहा है। यहाँ तक कि अधिकांश अर्थमुद्रा (money) संचलित किये हुए सामाजिक, भूगोलीय क्षेत्र में लागू होने वाले संकुचित परिमापों (narrow parameters) के बाहर वित्तीय नियम भी अविश्वसनीय मालूम देते हैं। अर्थमुद्रा, वास्तव में, सबसे सस्ती करेंसी है लेकिन किसी ऐसे वित्त प्रबन्ध के अंतर्गत ही जो वित्तीय शर्तों पर नपीतुली दक्षता हेतु तराशा हुआ हो। पूँजीवादी और साम्यवादी दोनों तरह के देश अपने-अपने विभिन्न रूपों में डालरों में गिने जाने वाले मूल्य-लाभ के अनुपातों में कार्यक्षमता (efficiency) को नापने के लिए प्रतिबद्ध हैं। पूँजीवाद अपनी श्रेष्ठता को बताने के वास्ते ऊँचे जीवनस्तर की शेखी बघारता है। साम्यवाद अपनी शिखर महासिद्धि के किसी संकेतक के रूप में ऊंची उत्पादन-दर का दंभ दर्शाता है लेकिन दोनों ही विचार-धाराओं के अंतर्गत बढ़ती हुई कार्यक्षमता की कुल लागत दुगुनी होती हुई गति से (geometrically) बढ़ती है। विशालतम संस्थाएँ उन संसाधनों के वास्ते सर्वाधिक खूँखार ढंग से प्रतिस्पर्धा कर रही हैं जो किसी सूची में दर्ज नहीं हैं: "हवा", "समुद्र", "शान्ति", "सूर्यप्रकाश" और "स्वास्थ्य"। इन संसाधनों की कमी को वे सार्वजनिक ध्यानाकर्षण में तभी लाते हैं कि जब वे सदैव-के-लिए पंगु होते जा रहे हों। हर जगह पर प्रकृति विषैली होती जा रही है और समाज अमानवी। इनके साथ-साथ आंतरिक जीवन पर हमला हो रहा है एवं वैयक्तिक व्यवसाय कुचले जा रहे हैं।

मूल्यों का संस्थायीकरण करने हेतु प्रतिबद्ध कोई समाज वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन को उनकी माँग के समरूप समझता है। शिक्षा जो तुमको उत्पाद (Product) का चकाची बनाती है वह उत्पाद की कीमत में शामिल है। स्कूल एक ऐसी विज्ञापन–एजेन्सी है जो तुमको यह प्रतीत करवाती है कि जैसा है वैसे ही समाज की तुमको जरूरत है। इस तरह के समाज में चन्द लोगों का जीवन-मूल्य (marginal value) निरन्तर स्वयं-सर्वोत्कृष्ट (Self transcendent) होता रहने वाला बन गया है। वह जीवन–मूल्य चन्द मुट्ठी भर उपभोक्ताओं को उत्तेजित करता है कि वे सत्ता की दौड़ में पृथ्वी को सुखा दें, अपने फुटबाली पेटों को फुलाते जाएँ, छोटे उपभोक्ताओं को अनुशासित दबाये रखें, और संतोषी लोगों को जो सीमित उपभोग में प्रसन्न रहते हैं उन्हें निष्क्रिय करते जाएँ। अतः भौतिक लूट-खसोट की, सामाजिक ध्रुवीकरण की, और मनोवैज्ञानिक निष्क्रियता की जड़ में अतृप्ति लोकाचार है।

जब नियोजित और यांत्रिक प्रक्रियाओं से मूल्य संस्थायीकृत बना दिये गये हों तब आधुनिक समाज के सदस्य मानने लगते हैं कि बेहतर जिंदगी ऐसी संस्थाओं को हासिल करने में है जो उन मूल्यों को परिभाषित करती है कि जिनके होने की जरूरत को वे तथा उनका समाज मानता है। संस्थायी मूल्य को किसी संस्था के उत्पादकों के स्तर के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। मनुष्य का तदनुरूप मूल्य (Corresponding value) इन संस्थायी उत्पादनों का उपभोग करने और घटिया देने की उसकी योग्यता के द्वारा नापा जाता है, और इस तरह एक नई–ज्यादा–ऊँची–माँग उत्पन्न की जाती है। संस्थायीकृत मनुष्य का मूल्य इस बात पर निर्भर है कि भस्म करने की उसकी क्षमता कितनी है। एक इमेज का सहारा लें–वह अपनी दस्तकारियों (handiworks) की प्रतिकृति बन गया है। मनुष्य आज अपने को उस भट्ठी की तरह परिभाषित कर रहा है जो उसके औजारों के द्वारा उत्पादित मूल्यों को जला रही है। और फिर, उसकी क्षमता की कोई सीमा ही नहीं है। उसका काम प्रामेथियस के कृत्य को उसकी पराकाष्ठा तक पहुंचा देना है।

पृथ्वी के संसाधनों का सूखते जाना और प्रदूषण फैलाना, ये दोनों ही मनुष्य के स्वरूप की विकृति एवं उसकी चेतना के पतन का प्रतिफल है। कोई

कह सकता है कि किसी सामुद्रिक चेतना की नवोत्पत्ति मनुष्य रूप की अवधारणा को किसी काया मानने की ओर अग्रसर हो रही है जो प्रकृति पर या व्यक्तियों पर नहीं; बल्कि कदाचित् संस्थाओं पर आधारित है। सारभूत मूल्यों का यह संस्थानीकरण, यह (मूढ़) विश्वास कि उपचार की नियोजित प्रक्रिया अंततः प्राप्तकर्ता द्वारा इच्छित प्रतिफल देती ही है, यह उपभोक्तावादी लोकाचार, ये ही प्रामेथियन भ्रांति की जड़ में हैं।

विश्वव्यापी स्थिति में किसी नये संतुलन को खोजने के प्रयास मूल्यों के संस्थानीकरण को हटाने पर ही निर्भर हैं।

'Homo faber' (=विकसित मानव) बनने के स्वप्न (Vison) में ही कुछ न-कुछ संरचनात्मक खोट है, यह आशंका पूंजीवादी, साम्यवादी और विकासशील (?) देशों के एक छोटे-से किन्तु बढ़ते हुए समझदार वर्ग में एक-जैसी है। यह आशंका एक नए प्रबुद्ध वर्ग (elite) में एक-समान रूप से अनुभव की जाने वाली विशिष्टता है। इसमें सभी वर्गों, आमदनियों, धर्मों, और सभ्यताओं के लोग शामिल हैं। ये प्रबुद्ध-जन अन्धाधुन्ध मिथकों के प्रति : याने, वैज्ञानिक स्वप्न-संसारों के मिथकों, विचारधारावादी-पैशाचिकताओं (ideological diabolism) के मिथकों और किसी तरह की बराबरी में वस्तुओं के समान बट-वारे के मिथकों के प्रति सतर्क हो गए हैं। जनता के इस भान के साथ कि वह फैलायी जा रही है, ये प्रबुद्धजन सहयोग कर रहे हैं। ये प्रबुद्धजन जनता की इस चेतना के साथ हैं कि अधिकांश नई नीतियां जो स्थूल सर्वसम्मति के द्वारा लागू की गई हैं,वे एकदम ऐसे परिणामों की ओर अग्रसर हैं जो उनके घोषित उद्देश्यों के बिलकुल विपरीत हैं और फिर, जहाँ एक ओर भावी गगन विहा-रियों (Would-be Spacemen) का धुंआधार प्रामेथियन प्रचार संरचनात्मक मुद्दे को अभी भी परे खिसकाता है, वहीं दूसरी ओर उभरता हुआ समझदार अल्पमत (एक छोटे-से किंतु बढ़ते हुएसमझदार वर्ग का मत) "वैज्ञानिकदिव्य-विभूति" की, और विचारधाराई रामबाण की, और जादू चमत्कार की कलई खोल रहा है। यह अल्पमत अपने अंदेशे को आकार देने की शुरूआत कर रहा है कि हमारे साथ लगातार की जा रही धोखेबाजियां हमें समसामयिक संस्थाओं से उसी प्रकार बांधती हुई हैं जैसे जंजीरें प्रामेथियन को उसकी चट्टान के साथ बांधे हुए थीं। आशा भरे विश्वास और क्लैसिकल विडम्बना (eironeia) को आपस में मिल कर और दांवपेंच चलाकर प्रामेथियन भ्रांति को उखाड़ फैंकना होगा।

प्रामेथियस के बारे में ऐसी धारणा है कि उसका मतलब "दूरदर्शिता" है या ऐसा कुछ कि "वह ध्रुव तारे का संचालक है।" इसी ने देवताओं को अग्नि के एकाधिकार से वंचित करने की चालाकी की, और इसी ने मनुष्य को सिखाया कि उस अग्नि से लोहे को पिघला कर कैसे ढाला जावे, और वो ही टेक्ना-लॉजिस्टों का देवता बन बैठा और फौलादी जंजीरों में जकड़ गया।

डेल्फी के भाग्यविद्या की जगह किसी ऐसे कम्प्यूटर ने ले ली है जो पैनलों और पंचकार्डों के ऊपर मंडरा रहा है। भविष्यवक्ता की षटपादियों का स्थान निर्देशकों के सोलह-भागी संकेतों ने ले लिया है। मनुष्य, याने कर्णधार ने अपनी पतवार सायबरनेटिक मशीन की ओर घुमा दी है। अन्तिम मशीन हमारी नियतियों को निर्देशित करने के लिए उभर आयी है। बच्चे ऐसे रॉकेटों को उड़ाने के कल्पना-लोक में रहते हैं जो धुंधलाती दिखाई देती जाती पृथ्वी को पीछे छोड़ते जाते हैं।

"चांद पर चढ़े आदमी के दृष्टिकोणों से प्रामेथियन टिमटिमाती नीली गाइया को "आशा" के नक्षत्र और "मानवता के इन्द्रधनुष" के रूप में पहचानता है। अब पृथ्वी की सीमाबद्धता और नया नास्टेल्जिया आदमी की आँखें खोल सकता है कि पृथ्वी के साथ पैंडोरा का विवाह करने का एपिमेथियस का चुनाव सही था या नहीं।

इस बिन्दु पर ग्रीक मिथ आशावादी भविष्यवाणी में बदलता है क्योंकि वह बतलाता है कि प्रामेथियस का लड़का ड्यूकालिअयान था—आर्क का कर्णधार—जो नोआह की तरह सैलाब पर चढ़कर ऐसी मानवता का पिता बन बैठा जिसे उसने एपिमेथियस की पुत्री पायराह और पैंडोरा के द्वारा पृथ्वी से रचा। हमें इस बात के अर्थ में से अन्तर्ज्ञान प्राप्त होता है : पैंडोरा देवताओं से जिस पाय-थास को लेकर आया वह इस वाक्य : पात्र और आर्क (Our vessel and Ark) का उलटा था।

हमें अब उन लोगों के लिए किसी ऐसे प्रतीक की जरूरत है जो "अपे-क्षाओं" के ऊपर "आशा" को महत्व दें। हमें उन लोगों के लिए एक ऐसा नाम चाहिए जो वस्तुओं की अपेक्षा मनुष्य से प्यार करें, और यह मानें कि—

"कोई भी लोग बेमतलब नहीं है,
उनकी नियति नक्षत्रों के इतिहास की तरह है।
उनमें बेतुका कुछ भी नहीं है
और एक नक्षत्र दूसरे नक्षत्र से भिन्न है।"

हमें उन मनुष्यों के लिए एक नया नाम चाहिये जो ऐसे संसार को त्यार करें जिसमें प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से मिल सके:

"और यदि कोई आदमी अंधेरे में जी रहा है
उस अंधेरे में यारी-दोस्ती हँसी-मस्ती में है,
तो वो अंधेरा भी बेमतलब नहीं है।"

हमें उन लोगों के लिये एक नाम चाहिये जो अग्नि को प्रज्वलित करने और लोहे को ढालने में अपने प्रॉमिथियन भाई का सहयोग करें, किंतु वे वैसा इस तरह से ही करें जिससे उनकी योग्यता की तरक्की दूसरों की खिदमत, देखभाल, और निगरानी के लिए हो और इसके लिए उन्हें यह याद रखना होगा कि :

"प्रत्येक के लिए उसकी दुनिया निजी है,
और उस दुनिया में एक सुखद क्षण है।
और उस दुनिया में एक दुखद क्षण है।
वे निजी हैं।"

मेरा सुझाव है कि इन आशावान नारियों और बहिनों का नाम हो एपिमेथियन मनुष्य।

(उपर्युक्त कवितांश प्रख्यात रूसी कवि येवजेनी येवतुशेंको की कविता-पुस्तक सेलेक्टेड पोएम्स में से लिये गये हैं)।

—— × ——